# चाबुक

( नौ निबन्धों का संकलन )

'निराला'

प्रकाशक
निरुपमा प्रकाशन
५०, शहरारा बाग
प्रयाग

वितरक
जबलपुर प्रकाशन गृह,
१६, नया बाजार जबलपुर

शाखायें
नागपुर : ग्वालियर
रीवा : वाराणसी



मुद्रक
पियरलेस प्रिंटर्स,
४, बाई का बाग,
इलाहाबाद

मूल्य
तीन रुपया

# दो शब्द

पूज्य पिता महाप्राण पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की मृत्यु गत वर्ष १५ अक्टूबर, १६६१ को एक लम्बी अवधि की अस्वस्थता के साथ हुई। महाप्राण के अवसान का दिवस हिन्दी ससार के लिए अत्यन्त शोक का दिवस माना गया। महाप्राण का एक मात्र पुत्र होने के कारण मेरे उत्तरदायित्व सहज रूप से बढ गये। सबसे बडा उत्तरदायित्व यदि था तो यह कि उनकी कृतियों के पुनर्प्रकाशन की व्यवस्था करना। अनेक प्रकाशको ने उनकी कृतियों के प्रकाशन मे जिस दरिद्रता का परिचय प्रस्तुत किया था वह महाप्राण के व्यक्तित्व के अनुरूप नहीं था, इस बात से सम्भवतः मेरे सभी शुभचिन्तकगण सहमत होंगे। अनेक कृतियो के प्रकाशको ने पुनर्मुद्रण की भी व्यवस्था नहीं की तथा प्रचार-प्रसार के कार्य को भी स्थगित कर रखा। ऐसी परिस्थितियो मे यह आवश्यक था कि महाप्राण के देहावसान के पश्चात् मैं इन त्रुटियो को अपनी दृष्टि मे रख कर कुछ कार्य करूँ ताकि मेरे दायित्वों के प्रति कोई भी हिन्दी प्रेमी उँगली न उठा सके।

महाप्राण के देहावसान के एक वर्ष के भीतर ही मेरे निर्देशानुसार उनकी यह कृति सुन्दर सुसज्जित रूप मे हिन्दी ससार के सम्मुख प्रस्तुत हो रही है। मैं भली भाँति इस बात से सुपरिचित हूँ कि अनेक शुभचिन्तक अनेक प्रकार की बाते मेरे समक्ष प्रस्तुत करेंगे, मैं उन्हे सुझावों के लिए आमन्त्रित करता हूँ ताकि मेरा पथ निर्देश होता रहे।

प्रस्तुत प्रकाशित कृति की आलोचना प्रस्तुत करना मेरा उद्देश्य नहीं है इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इस कृति को हिन्दी के अध्येताओ ने साहित्य की उपलब्धि माना है। हिन्दी के पाठक,

विद्वान जिस प्रकार महाप्राण की कृतियों को जो सहज महत्व प्रदान करते रहे उसी प्रकार वे अभी भी सहयोग पूर्ण महत्व देते रहेंगे, ऐसी मुझे आशा है। मैं व्यक्तिगत रूप से श्री उमानाथ त्रिपाठी व्यवस्थापक, निरुपमा प्रकाशन का आभारी हूँ जिनके अथक परिश्रम का ही परिणाम है कि यह पुस्तक सुन्दर रूप में प्रकाशित हो सकी। इस पुस्तक के प्रकाशक श्री जे० एस० खन्ना तथा निरुपमा प्रकाशन के अवैतनिक हिन्दी-निर्देशक प्रोफेसर विजय कुमार शुक्ल को भी धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने अपनी विशेष रुचि के द्वारा मुझे सहयोग प्रदान किया है।

१४ अक्टूबर, १९६२
दारागज, प्रयाग

*—रामकृष्ण त्रिपाठी*

# निवेदन

'चाबुक' मेरे लेखो का तीसरा सग्रह है। अधिकाश लेख सन् २३, २४ के लिखे हुए है । 'चाबुक' शीर्षक से मैं एक दूसरे नाम से 'मतवाला' मे व्याकरण पर आलोचनाएँ लिखा करता था। आलोचना यथार्थता लिए हुए जितनी भी हों, कटुता लिए हुए अवश्य थीं। आज जिन लेखको और सम्पादकों पर मेरी श्रद्धा है, उन्हे, उस समय, मैंने अपनी श्रद्धा नहीं दी। मैं करबद्ध होकर कटुता से समालोचित पूज्य साहित्यिकों से क्षमा चाहता हूँ। उस कटुता को ज्यो का त्यो इसलिए जाने दे रहा हूँ कि देखूँ, अगर कुछ सत्य भी है तो वह कितनी कटुता हज्म कर सकता है। मुझे विश्वास है, पढने पर पाठकों का श्रम जिस तरह सूक्ष्मता-दर्शन से सार्थक होगा उसी तरह मेरे तत्कालीन मनोभाव और अज्ञता के परिचय से प्रफुल्ल।

मैं उमाशकर सिंह जी को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने इनका संग्रह किया है।

'निराला'

# क्रम

# भौन कवि

गर्मियों मे प्रायः डेढ़ महीना (मुझे) डल्मऊ रहना पड़ा। डल्मऊ रायबरेली जिले का एक सब-डिवीजन है, मेरी ससुराल। पहाड़ जाने की अक्षमता ने ससुराल की ओर मुँह फेरा। कई साल नहीं गया था। फलतः तीसरे दिन लौटने की नौबत नहीं आयी। पहले का कुछ त्याग भी था। ससुर जी आधा हिस्सा अपनी बेटी को दे रहे थे—मैंने नहीं लेने दिया, कहा, 'एक तरफ़ बाप का आधा हिस्सा है, दूसरी तरफ़ पूरा मैं, एक लो।' श्रीमती जी ने मुझे ही पसन्द किया। एक कारण और है, मैंने श्रीमती जी की खाली जगह नहीं भरी, प्रायः बीस साल हुए, इसलिए सासु जी मुझे अपनी बेटी समझती है और सलहज साहिबा, ननद। बडे आनन्द से रहा। काफ़ी पोइट्री (कविता) मिली। दोनों वक्त गंगा नहाना, डटकर भोजन करना, एक वक्त कसरत, फ़ालतू समय सलहज साहिबा से ब्रजभाषा-काव्यालाप। सलहज साहिबा छोटी हैं, पद मे, यों, कई बच्चे की माँ हैं; घूँघट काढ़ती हैं, लेकिन छायावाद लिखते-लिखते मश्क ऐसी बढी है

कि झीने घूँघट के भीतर उनके सुन्दर मुख की छाँह मेरी निगाह में साफ़ रंग, रेखा, भाव और ज्योति लिये प्रतीत होती थी। वह समझती थीं—मैं पर्दे मे हूँ, मैं समझता था—मैं मजे मे देख रहा हूँ।

फैजाबाद मे लेक्चर्स मे नहीं गया। कई जगह कवि-सम्मेलन का सभापतित्व था, लिखा—इलाज करा रहा हूँ। कई जगहों से वैवाहिक निमंत्रण आये, लिख दिया—अब विवाह मे मै नहीं जाता, मुझे भावावेश होता है। सम्पादकों ने रचनाएँ माँगीं, समझा दिया लिखकर, विहारी का है, किसका है, वह बाद वाला टुकड़ा—जगत तपोवन मय कियो।

घर मे जैसा आनन्द, बाहर भी वैसा ही। सुप्रसिद्ध ज्योतिषी पं० गिरिजादत्त जी त्रिपाठी के यहाँ गीतवाद्य लगा ही हुआ। देश भर के गुणी आते-जाते है, कभी अच्छन आये तो कभी नौरंग। बटमार तो रोज दो-चार पहुँचते है, जिन्हे रास्ता चलते आटा-दाल की जरूरत होती है। ज्योतिषी जी और उनके छोटे भाई वैद्यरत्न जी ( मझू महाराज ) बडी पैनी निगाह के आदमी, साथ ऊँचे दर्जे के सभ्य, देहात मे जैसे व्यक्ति अलभ्य कहे जाते है। सबकी इज़्ज़त, सबकी प्रशंसा करने वाले। मेरी शादी पडित जी के पूज्य पिता ने तय की थी, ज्योतिषशास्त्रानुसार यद्यपि नहीं बनती थी—मैं मगली था, फिर भी वह वहाँ के वृहस्पति थे—उन पर सबकी श्रद्धा थी, न जाने किस तरह बनाकर मेरे ससुर जी को विवाह करने के लिए समझाया, मेरे पिता जी ने भी उनकी खुशामद की होगी—सदेह नहीं, कारण मेरे ससुर जी की लड़की उनकी पुत्रवधू हो—कई साल से उनका ध्यान था, मैं जानता था। अस्तु, तब से इस ज्योतिषी-परिवार पर मेरी बडी श्रद्धा है। ये लोग मुझे कुल-कमल कहते है। सुनने मे मुझे बुरा नहीं मालूम देता। प्रायः उनके यहाँ जाया करता था। देर हो

जाती थी, तो मंभू महाराज बुला भेजते थे। दो बजे से छः बजे तक ताश होते थे, ब्रिज नहीं, न टुएटी नाइन—न लिट्रेचर न ब्लैक कुइन—न स्क्रू, बस सात हाथ। ठंढाई और गगास्नान के बाद कसरत और फिर सगीत। प्रातःकाल गोश्त पकाने मे व्यतीत होता था, या किसी कवि या विद्वान की किताबी प्रतिभा मे। आनन्द का आकर्षण जबर्दस्त होता है। मैरिस कालेज, लखनऊ, के मृदगाचार्य प० सखाराम जी रह नहीं सके, डल्मऊ आये, मुझे स्नेह करते है, चि० रामकृष्ण उनका शिष्य है, यद्यपि उसके साथ एक बार आ चुके थे, फिर भी, इस बार मेरे मुख से ग्रीष्म की शीर्ण स्वच्छतोया प्रखरा गगा का माहात्म्य सुना था, लखनऊ मे जब मैं था, और साथ-साथ मेरे ससुराल के सबंध में अतिशयोक्ति अलकार, जिसमे घन-वृक्ष-पत्रच्छायाच्युतरश्मि लेखा शीत-सैकत-सलिला डल्मऊ की प्रभात-वेला की वर्णना थी, पर धूल और बालू से धुआँधार गर्मी की दुपहर का जिक्र न था। स्वप्न ज्योत्सनामयी विमला क्षण-कल्प तरला पश्चिम-समीर शीतला रात्रि का वर्णन तो था, पर मच्छडो के अविराम भनभनाने और काटते रहने की बात न थी। पं० सखाराम जी ३-४ दिन रह कर चलते समय मुस्किराते हुए बोले, वास्तव मे बड़ा आनन्द आया।

एक दिन दोपहर को बेती चलने की बात हुई, नाव से डल्मऊ से पाँच मील पूर्व है। पहले मंभू महाराज से भौन कवि के कवित्त सुन चुका था। यह भी मालूम कर चुका था कि भौन बेती के थे। पहले मेरी स्त्री की एक महाराजिन गार्जियन थी, वह बेती की थी, इसलिए बेती मे कविता विशेष मिली, मैं चलने को राज़ी हो गया। हम लोग चले। नाव पर पं० गिरिजादत्त जी, मंभू महाराज, मुन्नू बाबू, पं० गिरिजादत्त जी के एक रिश्तेदार और मैं। तरह-तरह की बाते होती रहीं, भौन कवि के सम्बन्ध मे ख़ास तौर से। प० जी बन्दूक

लिये हुए थे। घड़ियाल देखते जाते थे। एक बड़ा कछुआ किनारे से कूदा। घड़ियाल की माँद खाली थी। अमरूद के बग़ीचे मिले, मैं कई बार वहाँ जा चुका था। एक रेती पर कुछ चिड़ियाँ बैठी थीं, दरियाई। इच्छा हुई कि कहूँ—एक फ़ायर कीजिए। पर रुक गया। पं० जी मारते है, खाते नहीं।

बेती आयी। एक कुत्ता मिला, पागल-पागल-सा। पं० जी ने बन्दूक दिखाई, तो वह दुम हिलाने लगा। गाँव का था। गाँव जाते देखा, तो वह भी साथ हो लिया। जिसके नज़दीक होता, वही कसौली सोचकर घबराता, ढेले उठाकर और ढेले चलाना छूटा, न कुत्ते का पीछा करना। तब तक बात हो गयी थी कि पागल कुत्ता पीछे से काटता है।

बेती आयी। छोटा गाँव, ऊँचे कगार पर बसा है। सामने गंगा बगल से रास्ता। हम लोग चढ़े। कुँआ मिला। घड़े भरे एक स्त्री। पं० गिरिजादत्त जी ने कार्य-सिद्धि का कोई मंत्र पढ़ा। मैंने मन में कहा, 'पहले कुत्ता मिला है, तब यह कुछ नहीं बोले, देखा जाय क्या होता है।'

भीतर हम लोग एक कान्यकुब्ज कुलीन श्रीमान् के यहाँ आये। पं० जी ने पूछा नौकरों से, तब तक वह स्वयं अपने रब्बे पर कहीं से आ गये। बातचीत होने लगी। पं० जी परिचित थे, हम लोग अपरिचित। परिचय हुआ। पं० जी ने मेरे लिए कई 'तम' एक वाक्य में जोड़े। कान्यकुब्ज महाशय भी एक 'तम' थे। साम्य की प्रिय भावना से मुझे देखा। फिर बातचीत होने लगी वैवाहिक। अब मैं वहाँ जाने का कारण समझा। उठकर मुन्नू बाबू के साथ भौन कवि का भवन देखने चला। उस समय कान्यकुब्ज महाशय आस्पद, घर, आँक, शिखा-सूत्र न-जाने क्या-क्या पूछ-पूछकर लिख रहे थे।

देख-दाखकर हम लोग लौट आये। फिर सबके साथ नाव की ओर चले।

कुछ दिन बाद मालूम हुआ, भरे घडे की अपेक्षा कुत्ते वाला प्रभाव बलवान हुआ।

भौन कवि नरहरि के वशज है, सेवक के खानदानी। नरहरि पहले बेंती के रहने वाले थे, फिर असनी मे बसे थे। भौन, गौरा नरेश भूपाल सिंह के समय थे। 'मिश्र बन्धु विनोद' मे इन भौन का ज़िक्र है या नहीं, नहीं मालूम, जहाँ तक स्मरण है, एक दूसरे भौन का ज़िक्र है। 'भौन' ब्रह्मभट्ट थे। इनके पुत्र, दीन दयाल 'दयाल' कवि थे। भौन की कोई पुस्तक प्रकाशित नही हुई, पूछने पर मभ्भू महाराज से मुझे ऐसा ही मालूम हुआ। यहाँ कुछ रचनाएँ भौन की देता हूँ। ये मभ्भू महाराज को याद थीं, मैंने लिख लीं। भौन मे अच्छा कवित्व मालूम दिया। दयाल पिता के-जैसे नहीं।

## भौन की रचनाएँ—

(१)

**चूं-चूं करैं चहुँ ओरन ते झकझोर करैं बड़े भोर ते जागैं,**
**आम के खैंड, अराम के पेड़, रहीं झुकि मेंड़ में मूज की मागैं।**
**टूटि गए गोफना के फना, करतारी बजाये भगाए न भागैं,**
**पार न पावै गलारन तें, यहि हार में हुर्रा हजारन लागैं।**

यह सुन्दर रचना है। इससे भौन की काव्य-प्रतिभा का पता चलता है।

(२)

**मुसका बँधावैं, बैल चुसका न पावैं,**
**घास-घुसका रखावैं, कहैं यहाँ काम आवैगो।**

फरुहा, कुदारी दारी खुरपी न आवै खेत,
हरको नसी ते जोर जर की बचावैगो।
भौन कवि कहैं हाँकी हाँका ते चराये लेत,
जंगल के बीच मे कहाँ लौ कौन धावैगो।
जैसी ये जमीन भौन पायी बर्दहा के बीच,
तैसी कविराज कहूँ पायी है, न पावैगो।

( ३ )

त्रेता में न उठी औ न द्वापर में जोती गयी,
आनि कलिकाल में बटाई भई दाना की।
जामि कै जवास और जरैला जर कसि रहे,
नारे के किनारे कुसी कास हरिआना की।
भौन कवि कहै हेरि फेरि कै बतावैं वहै,
ऐसे महापातकी न मानै दाब राना की।
आप तो लिखी है ठीक दुई की सनद,
पर इलति इलाकेदार देत चारि आना की।

( ४ )

जैहैं फूटि फूट सी तमाम तोप तोड़वाली,
कूटि जैहैं काबिल कमाल फौज बानाते।
टूटि जैहै देश को दिमाग, जोर छूटि जैहै,
लूटि जैहै लाखन को मोल तो सखाना ते।
भौन कवि कहत खोदाय की खबर करौ,
पीछे पछतावगे खराब खून खाना ते।
बैरिन की बनिता सिखावतीं एकंत, कंत,
कीजिए न रारि बेनीमाधोवक्स राना ते।

( ५ )

भौन भौन छोड़ें नही, गौरापति की आस,
बहु नरेश यहि देश में जात न काहू पास ।

( ६ )

दीरघ दुकूल धरे देवता बजाज बैठे,
पय को पसार पुण्य पूरो रोजगार है ।
सेत-सेत रेत रूप-रासि पै सराफ साफ,
सवदा के लेत ही सुखद अलगार है ।
भौन कवि कहैं सारे बनिक विहंगन को,
बाजत मृदंगन तरंगन को तार है ।
सूझता न वारपार करै को विचार सार,
कैंधो, गंग-धार कैंधो मुक्ति की बजार है ।

( ७ )

ऐसे महापातकी प्रसिद्ध पुहुमी में जिन,
बालपन ही ते काम कीनो है अधम के ।
पुन्य को न लेश औ पुनीत ना पुरातम के,
पूरित परे रहे प्रवेस तेह तम के ।
भौन कवि कहे भागीरथी के समीप आय,
भटकैं न काहू लखि कौतुक भरम के ।
रहे जात कागद करम के न कहे जात,
बहे जात वारि में, न गहे जात जम के ।

★

# कविवर बिहारी और कवीन्द्र रवीन्द्र

यह छोटा सा-लेख इस उद्देश्य से नहीं लिखा जा रहा कि तराजू के एक पलडे पर बिहारी और दूसरे पर रवीन्द्रनाथ को बैठाकर दोनों कवियों की कवि-प्रतिभा तौली जाय। बिहारी महाकवि है, इसमे कोई सन्देह नहीं परन्तु रवीन्द्रनाथ केवल भारत के नहीं, संसार के महाकवि है। बिहारी के काव्य-विवेक में उतनी नवीनता नहीं जितनी रवीन्द्रनाथ की कविता मे है। बिहारी ने किसी नये छन्द का आविष्कार नहीं किया, कोई ऐसा अनूठा भाव नहीं दिखलाया जिसे अपनाने के लिए संसार भर के मनुष्यों को लालच हो। रवीन्द्र-नाथ मे ऐसे एक नहीं, अनेक छन्द हैं—अनेक भाव हैं। बिहारी के काव्य-क्षेत्र से रवीन्द्रनाथ का काव्य क्षेत्र बहुत प्रशस्त है—बहुत विस्तृत है। बिहारी की प्रतिभा हिन्दी ही के हाव-भावों को मुग्ध करती है, रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा संसार भर के भाव-सौन्दर्य को चमत्कृत करती है। दोनों मे बड़ा अन्तर है। सम्भव है, यदि बिहारी रवीन्द्र-नाथ के समय के कवि होते तो उनके काव्यों मे भी विश्व-भाव के

संगीत सुन पड़ते। परन्तु जो नहीं हुआ और नहीं मिलता, उसके लिए न सम्भावना बतलाने की आवश्यकता है, न उसकी प्राप्ति के लिए समर्थन करने की जरूरत है। बिहारी के आने से हिन्दी मे किसी नवीन युग का आविर्भाव नहीं हुआ, परन्तु रवीन्द्रनाथ युग-प्रवर्त्तक हैं। अस्तु, अब दोनो के शृंगार-चित्रण के चमत्कार देखिए। पाठकों के मनोविनोद के लिए कुछ पद्य हम उद्धृत करते है। इससे पहिले हम इतना और कह देना चाहते हैं कि हिन्दी की प्राचीन प्रथा के अनुसार बिहारी ने किसी एकभाव को एक ही दोहे में समाप्त कर दिया है, परन्तु रवीन्द्रनाथ के भावो का तार पद्य की कुछ लड़ियों के समाप्त न होने तक बँधा रहता है। यों तो पढ़ने मे कितने ही भावो का समावेश जान पडता है, परन्तु उनमे भी एक पारस्परिक सम्बन्ध बना रहता है। दूसरी बात यह है कि बिहारी नायिकाभेद बतलाते है, परन्तु रवीन्द्रनाथ स्त्रियों के स्वभाव का चित्रण करते है। बिहारी के भावो से विकार पैदा हो सकता है परन्तु रवीन्द्रनाथ के भावों मे वह बात नहीं, उनके भावों से केवल अनुराग ही बढ़ता है।

अच्छा, लज्जा पर बिहारी और रवीन्द्रनाथ दोनों की कुछ उक्तियाँ देखिए—

**"लखि दौरत पिय-कर-कटक, वास छुड़ावन काज।**
**वरुणी-बन दृग-गढ़नि में रही गुढ़ा करि लाज॥"**

टीकाकार प० पद्मसिंह जी लिखते हैं—"रति के समय, बिहारी नायक ने नायिका के अंग से वस्त्र उतारने मे हाथ बढ़ाया है। लज्जा ने देखा कि अब खैर नहीं; यह स्थान भी छिना। सो वह

बेचारी आँखो के किले मे, जिसमे बरौनी का बन छाया हुआ है, आ छिपी है।"

हम इसका ध्वन्यात्मक अर्थ स्वयं न लिखकर टीकाकार के अर्थ का ही अंश उद्धृत किये देते है :—

"नायिका के सारे शरीर-देश पर लज्जारानी का राज्य था। सो उस पर गनीम (नायक) ने वाह्य रवि-सगर मे अपना अधिकार कर लिया। वहाँ से लज्जा की अमलदारी उठ गयी। केवल उसका निवास 'वर-मण्डप' मे साडी की छोलदारी मे रह गया था। बेचारी वस्त्र के नीचे जैसे-तैसे आकर छिपी पडी थी, उसने देखा कि अब उसे छीनने को भी कर-कटक-दस्त राजी का लश्कर बढ़ा आ रहा है, अब यहाँ भी रक्षा नहीं, सो वह वस्त्र रूपी वास स्थान को छोडकर आँख के सुदृढ गढ़ मे जाकर छिप गयी। कुल-बाला की आँख, लज्जा का प्रधान स्थिति-स्थान है, वहाँ से उसे हटाना जरा टेढ़ी खीर है।"

कवि सम्राट रवीन्द्रनाथ की लज्जा दूसरे ही ढग से व्यक्त होती है। इसलिए लज्जा विषयक एक ही ढग का उदाहरण हम नहीं दे सकते। रवीन्द्रनाथ की नायिका कुरूपा है। रूप न होने पर भी वह अपने प्रियतम को गुप्त भाव से प्यार करती है। उसी की उक्ति है :—

**जार नवीन सुकुमार कपोलतल**
**कि शोभा पाय प्रेम लाजेगो।**
**जाहार ढ़लढ़ल नयन शतदल**
**तारेइ आँखी जल साजेगो।**
**ताई लुकाये थाको सदा पाछे से देख,**
**भालो बासिले भरी सरमे।**

> रूधिया मनोद्वार प्रेमेर कारागार
> रचेछि आपनार भरमे।

कुरूपा नायिका आक्षेप कर रही है। प्रियतम से मिलने की उसे कोई आशा नहीं। परन्तु वह प्रेम नहीं छोड सकती। कहती है— 'जिसके कपोल तल नवीन और सुकुमार है, प्रेम की लज्जा से उसकी कितनी न शोभा होती होगी। जिसके नयन शतदल डबडबाये हुए ही बने रहते है, आँसू बस उसे ही सजते है। वह मुझे कहीं देख न ले, इस भय से मै सदा छिपी रहती हूँ। प्यार करने को (क्या कहूँ) लज्जा से ही मरी रहती हूँ। 'मन का द्वार बन्द करके, मैंने अपने मर्म के ही भीतर प्रेम का कारागार रचा है।'

बिहारी जो कुछ कह जाते है उसने कहने को कुछ बाकी नहीं रखते। परन्तु रवीन्द्रनाथ जहाँ अपनी अक्षमता बतलाते है वहाँ पढ़ने वाले भी समझते है कि यह भाव का समुद्र शब्दो के बाँध से नहीं बँध सकता। बिहारी के दोहे के समाप्त होने के साथ ही उनका भाव भी समाप्त हो जाता है, पाठको के लिए कुछ सोचने की बात नहीं रह जाती, कोई भाव कुछ देर के लिए अपना प्रभाव नहीं छोड़ा जाता। परन्तु रवीन्द्रनाथ का संगीत समाप्त हो जाने पर भी कुछ देर तक कानों मे उसका स्वर बजता रहता है। बिहारी की नायिका आँखों के किले मे छिप गयी। तो फिर क्या हुआ, बस एक सुन्दर चित्र आँखों के सामने आया और अलग हो गया। परन्तु रवीन्द्रनाथ की नायिका हृदय मे कारागार रचती है और वहीं अपने प्रियतम को कैद कर रखती है। यह ध्वनि आप गूँजती है, इसकी झनकार कवि की अँगुलियों से नहीं होती। एक बात और 'तन्त्री नाद कवित्त रस सरस राग रति-रंग। अनबूडे बूडे तिरे जे बूडे सब अंग।'

यह गुण बिहारी में नहीं, यह रवीन्द्रनाथ मे पाया जाता है। बिहारी तटस्थ रहते है, रवीन्द्रनाथ डूब जाते हैं। बिहारी को सदा अपने कवि होने का ज्ञान रहता है—बिहारी खुद नायिका नहीं बन जाते, परन्तु रवीन्द्र नाथ स्वयं नायिका बन जाते है। इसीलिए कविता और खिल पडती है। बिहारी चित्रण-कुशलता दिखाने की फिक्र मे रहते हैं परन्तु रवीन्द्रनाथ अपने विषय मे मिल जाते है, इसीलिए जब आगे अथाह भाव उमड़ पडता है तब तल्लीन कवि भाव ही देखता रह जाता है, और जो कुछ थोड़ा सा लिख जाता है बस उतने ही से पाठक भाव-महोदधि का उच्छ्वास समझ जाते हैं।

**दीप उजेरेहू पतिहिं हरत वसन रति काज।**
**रही लपटि छवि की छटनि नैको छूटी न लाज।**

**—बिहारी**

'दीप के प्रकाश मे, वस्त्र हर लेने पर भी, लज्जा न छूट सकी, निरावरणकाय-कान्ति की छटा ऐसी छा गयी कि उसने अनावृत अग को ढाँप लिया। कान्ति की छटा ही दीखती है, उसकी चकाचौंध मे शरीर नजर नहीं आता।'

—पद्मसिंह शर्मा।

कुछ बिहारी की कल्पना है, उस पर पद्मसिंह जी भी कल्पना लड़ाते है। बहुत जगह चमत्कार पैदा करने मे बिहारी से जो कुछ कोर-कसर रह जाती है उसे पद्मसिंह जी पूरा कर देते हैं। खैर, अब रवीन्द्रनाथ की कुछ उक्तियाँ देखिए :—

**"भेबे देखो आनियाछो मोरे कोन खाने।**
**शत-शत आँखी भरा कौतुक-कठिन धरा**
**चेये रबे अनावृत कलंकेर पाने।"**

नायिका अपने नायक से कहती है—'तुम मुझे कहाँ ले आये हो। जरा सोचते तो सही। यह कौतुक-कठोर ससार करोड़ो आँखें मेरे अनावृत कलंक की ओर हेरती रहेगी।'

**भालावासा ताओ यदि फिरे नेब्रेशेषे,**
**केन लज्जा केडे निले, एकाकिना छेड़े दिले,**
**विशाल भवेर माझे विवसना-वेशे।**

'एक मात्र प्यार रह गया था, वह भी अन्त मे यदि वापस लेना था तो तुमने मेरी लज्जा क्यो छीनी? इस विशाल संसार मे मुझे अकेली और विवस्त्रा करके छोड दिया।'

**भाँगिया देखिले छि छि नारीर हृदय,**
**लाजे भये थर थर भालोबासा सकातर**
**तार लुकाबार ठाइ काडिले निदय।**
**नितान्त व्यथारे व्यथी भलो वासा दिये**
**सजतने चिरकाल रचित दिबे अन्तराल**
**नग्न करे छिनु प्राण सेई आशा निये।**
**मुख फिरातेछो सखा आज कि बोलिया।**
**भूल करे ऐसे छिले? भूले भालो बेसे छिले?**
**भूल भेगे गेछेताइ जेतेछो चलिया?**

**—रवीन्द्रनाथ**

'छिः नारी हृदय को तुमने देखा तो उसे तोड़ कर देखा। निर्दय: जो लज्जा और भय से काँप रही थी, प्यार के लिए ही जिसकी करुणा उमड चली थी, उसके छिपने की जगह भी तुमने छीन ली। मैंने सोचा था तुम सहृदय हो, अपने प्रेम और यत्न से मेरे लिए चिरकाल तक रहने का एक अन्तराल (गुप्त जगह) रच दोगे

इसी आशा से मैने (तुम्हारे सामने) अपने प्राणों को नग्न कर दिया था। प्रिय! अब इस तरह मुह फेर रहे हो? क्या तुम आये थे तो कोई भूल की थी? प्यार किया, वह भी भूल ही थी? अब अपनी भूल समझ गये इसलिए चले जा रहे हो?'

**छुटै न लाज न लालचो प्यौ लखि नैहर गेह।**
**सटपटात लोचन खरे भरे सकोच सनेह॥**

—बिहारी

'नायिका पीहर मे है, वहीं नायक देव पधारे है, नायिका मिलना चाहती है, पर नही मिल सकती। उसकी आँखो मे प्रिय से मिलने का लालच और पीहर की लाज दोनो बराबर भरे है। न वह लालच ही छूटता है न वह लाज ही छूटती है और न इस दशा मे व्याकुलता ही कम होती है।'

—पद्मसिंह

**'भवे प्रेमेर आँखी प्रेम काडिते चाहे, मोहन रूप ताई धरिछे।**
**आमी जे आपनाय फुटाते पारी नाइ, परान केदे ताइ मरिछे।**

—रवीन्द्रनाथ

'ससार मे प्रेम की आँखे प्रेम छीन लेना चाहती है। इसीलिए वे मोहन रूप धारण कर रही हैं। परन्तु हाय! मैं तो अपने को खिला नहीं सकती। मेरा जी यही सोच-सोच कर रो रहा है।'

रवीन्द्रनाथ की नायिका अपने ही प्रियतम की आँखे नहीं देखती वह ससार भर की आँखो को प्रेम की कसौटी मे कस रही है। वह सभी आँखो मे प्रेम छीन लेने की चाह देखती है। इस चाह से संसार की आँखों मे सुकुमार सौदर्य की कैसी झलक आ जाती है। प्यार

करने वालों का स्वरूप किस तरह विकसित हो जाता है, इसे भी वह ध्यान पूर्वक देख रही है। परन्तु अपने भाव-सौदर्य का उसे ज्ञान नहीं है। वह अपने को कुरूपा समझती है। इसका कारण वह यह बतलाती है कि मैं अपने को खिला नहीं सकी। यहाँ रवीन्द्रनाथ दर्शन की युक्ति से भी नायिका के वाक्य की पुष्टि करते रहे है। 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।' चित्रकार जितनी सुन्दर कल्पना कर सकता है उसका चित्र उतना ही सुन्दर होता है। सौदर्य की ही कल्पना को लोग ललितकला का मुख्य आधार कहते है। यही बात मनुष्य के स्वरूप के लिए भी संघटित होती है। गत जन्म मे जीव मे सौदर्य की जैसी कल्पना थी, इस जन्म मे उसे वैसा ही रूप मिला है। असभ्य जातियों मे ललितकला का अभाव है इसीलिए वे कुरूप होते है। रवीन्द्रनाथ की नायिका सौदर्य-कल्पना की कमजोरियों के लिए ही आक्षेप करती हुई कहती है, 'मै अपने को खिला नहीं सकी' थोडे ही शब्दो मे भाव कितने गम्भीर और ललित है। दूसरी खूबी रवीन्द्रनाथ मे यह है कि उनकी नायिका को ससार के सब देशों के मनुष्य अपनी नायिका समझेगे। कितनी ही जगह बंग-बालाओं का चित्रण करने के कारण रवीन्द्रनाथ की कविता मे प्रान्तीयता आ गयी है। परन्तु कहीं-न-कही, वहाँ भी कवि की वीणा से विश्वभाव के सगीत निकल आते है।

**पति रति की बतियाँ कही सखी लखी मुसकाय।**
**'कै कै सबै टलाटली अली चली सुख पाय॥**

—बिहारी

नायिका के पास कुछ सखियाँ बैठी इधर-उधर की बातें कर रही थीं। नायक ने वहाँ पहुँच कर नायिका से चुपके से एक गुप्त प्रस्ताव कर

दिया, जिसका भाव समझ कर चतुर सखियाँ बहाने बना-बना कर वहाँ से उठ खडी हुईं, मकान खाली कर गयीं।

—पद्मसिंह शर्मा

ऐसी उक्तियों मे विकार की मात्रा आवश्यकता से अधिक है। पतिदेव थोड़ी देर के लिए भी धैर्य नहीं रख सके। दूसरो की स्त्रियों के बीच मे कूद पडे और अपनी (urgent) प्रार्थना सुना दी। यही एक बात देख पडती है कि अनग की तरंग मे पतिदेव और पत्नीदेवी के साथ-साथ (कै कै सबै टलाटली अली-चली सुख पाय) सखियाँ भी बह जाती है।.

इस तरह का विकार रवीन्द्रनाथ की कविता मे नहीं आने पाता :

**तब अवगुण्ठन खानी आमी केड़े रेखे छिनु ठानीं।**
**आमी केड़े रेखे छिनु वक्षे तोमार कमल-कोमल पाणी।**
**भावे निमीलित तव नयन युगल मुखे नाही छिलो वाणी।**
**आमी शिथिल करिया पाश, खुले दिए छिनु केशराश।**
**तव आनमित मुखखानी। सुखे थुये छिनु बुके आनी।**
**तुमी सकल सोहाग सयेछिले सखि, हासी मुकुलित मुखे॥**

'मैंने तुम्हारा घूँघट खोल डाला था। कमल के सदृश तुम्हारा कोमल हाथ तुमसे छीनकर अपने हृदय मे रख लिया था। भावावेश मे तुम्हारी अधखिली आँखों की कैसी शोभा थी। मुँह से एक शब्द भी नहीं निकला था। फिर बन्धन शिथिल करके, मैंने तुम्हारी केशराशि खोली थी। तुम्हारे नतमस्तक को अपने हृदय मे रख लिया था। सखि! ये सुहाग सहते हुए भी तुम्हारा मुख हास्य-मुकुलित (हँसी से

खिला हुआ ) था।' देखिए प्रेम का चित्र खिंच जाता है। कहीं विकार का नाम तक नहीं।

**सकुच सुरत आरम्भही बिछुरी लाज लजाय।**
**ढरकि ढार ढुरि ढिग भई ढीठ ढिठाई आय।**

—बिहारी

'सुरत के आरम्भ में ही नायिका का संकोच मानो लज्जा से लजाकर विदा हो गया। लज्जा भी लज्जित होकर चलती बनी। और ढीठ जो ढिठाई है, सो आकर अच्छी तरह प्रसन्न होकर, सरक कर समीप आ गयी। लज्जा के दूर होते ही ढिठाई पास सरक आयी।"

—पद्मसिंह

**'दुटी रिक्त हस्त सुधू आलिंगने भरी**
**कण्ठे जड़ाइया दाव, मृणाल परशे**
**रोमांच अंकुरि उठे मर्मान्त हरषे,—**
**कम्पित चंचल वक्ष, चक्षु, छल-छल**
**मुग्ध तनु भरि जाय, अन्तर केवल**
**अंतेर सीमान्त प्रान्ते उद्भासिया उठे**
**एखनी इन्द्रिय बन्ध बुझी टूटे-टूटे।**
**चुम्बन मॉगिवो जबे ईषत् हासिया—अयि प्रिया।**
**बाँकायो न ग्रीवा खानी, फिरायो ना मुख,**
**उज्ज्वल रक्तिम वर्ण सुधापूर्ण सुख**
**रेखो ओष्टाधर-पुटे, भक्त भृंग तरे**
**सम्पूर्ण चुम्बन एक हासी—स्तरे-स्तरे**
**सरस सुन्दर ।'**

—रवीन्द्रनाथ

"मुझे अपनी बाँहों मे भर लो। तुम्हारे निराकरण बाहुओं के छू जाने पर, मुझे इतना हर्ष होगा कि मेरे रोमाचों मे सजीवता आ जायगी, वे अंकुरित हो उठेगे। तुम्हारा कम्पित हृदय, छलछलायी आँखे और अनुराग-मुग्ध शरीर! अंगों के सीमान्त प्रदेश मे एक-मात्र तुम्हारा अन्तर उद्भासित होता रहे, जिसे देखकर इद्रियो के बन्धन शिथिल पड़ जाये, यही अनुभव हो कि अब इद्रियों के बन्धन टूटते ही है। प्रिये, जब जरा मुसकराकर मैं चुम्बन माँगूँगा तब अपनी ग्रीवा न मरोडना, मुँह न फेरना, अरुणोज्ज्वल ओष्ठाधरों मे वही सुख जिसमे सुधा परिपूर्ण है, रख छोड़ना और अपने भक्तभृंग के लिए रखना हास्य की सरस और सुन्दर हिलोरों से भरा एक सम्पूर्ण चुम्बन।'

पाठक! देखी आपने कल्पना की उड़ान और चित्र-चित्रण।

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी

ईसवी सन् १६२८ का शरत्काल, ज्वार और बाजरे के पेड़ों की बाढ प्रायः पूरी हो चुकी है। कोई-कोई पेड गभुवारे, बाली और भुट्टे फुनगी के पत्तो मे छिपे हुए। किसी-किसी ने सुन्दरी बहू की तरह थोड़ा-सा घूँघट उठाकर पृथ्वी पर परिचय की दृष्टि डाली है। वर्षा का वेग मन्द, शीत के आगमन की सूचना मजे मे मिल रही है। सारी प्रकृति एक स्तब्धता धारण किये हुए। बरसाती नदियों का पानी काफी घट गया है। किनारों के घास फूले हुए हवा मे झूम-झूम जाते है। बागों मे घास कमर तक, कहीं-कहीं छाती तक आ गई है, भँजूर और जनेवा की सुगन्ध धरमपुर और शिमले की याद दिलाती है। किसान बडी लगन से हल चला रहे है। रबी की फसल बोने का समय आ गया है। सुबह की साधारण ओस-पडी घास से आती स्निग्धता फूलित रग-विरंगी किरने, चिड़यों की चहक, जगली फूलों की सुगन्ध, हल की मूठ पकडे पाटे लगाते किसानों की तेजी, मन की एक नई आँख खोल देती दिल मे एक दूसरी ला देती है। शामँ की स्तब्धता शरत्

की शुभ शान्ति का चित्र खींच देती है। मृत्यु के बाद के नये जीवन की तरह काम की नयी सूरत सामने आती है। इस स्तब्धता से जैसे कुल विरोध दबकर मर जाता है और रचना की नवीनता अपनी जीवनदायिनी कला से चपल हो उठती है। गाँव मे हूँ, एकाएक श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का हिन्दू विश्वविद्यालय से पत्र मिला, हमारे यहाँ हिन्दी परिषद् मे रहस्यवाद और छायावाद पर व्याख्यान दीजिए। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी इस परिषद् के उपसभापति, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय जी सभापति और श्री सोहनलाल द्विवेदी सेक्रेटरी थे। एक ही भाषण मैंने अब तक दिया था, विद्यासागर कालेज, कलकत्ता मे। सभापति महामना मालवीय जी थे। श्री जे० एल० बनर्जी के हिन्दी-विरोधी धारा-प्रवाह अँग्रेजी भाषण के जवाब मे बोला था। पूज्य मालवीय जी, जनमण्डली तथा मित्रों से तारीफ़ पा चुका था, डर छूट चुका था। मैंने वाजपेयी जी का आमन्त्रण स्वीकार कर लिया।

उन दिनों छायावाद की जोरों से मुखालिफत थी, आज के प्रगतिवाद की जैसी। प्रगतिवाद संघबद्ध साहित्यिक प्रचेष्टा है, छायावाद इनेगिने साहित्यिकों का प्रयत्न था। हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्र, अध्यापक तथा काशी के साहित्यिक इस व्याख्यान के सुनने के लिए बडे उत्सुक हुए। हर निगाह मे, मुझे आग्रह दिखा। काशी चलकर मैं वाजपेयी जी के यहाँ ठहरा। वाजपेयी जी आर्य-भवन मे रहते थे। पहले दो-एक बार उन्हे देख चुका था, खत-किताबत जारी हो चुकी थी, अब नज़दीक से अच्छी तरह देखने का मौका मिला। गोरा रग, बड़ी-बड़ी आँखें, साधारण कद, स्वस्थ देह, स्वच्छ खादी के वस्त्र, स्वाभाविक प्रसन्नता, पास रहने वालों को खुश कर देने वाली शालीनता तथा सयत भाषा, हृदय पर मधुर मुहर छोड़ती हुई, जो

प्रायः नहीं मिटती। आर्य-भवन हिन्दू-विश्वविद्यालय के बडे-बडे छात्रावासों से दूर एकात मे है, हरियाली के बीच मे एक तरफ अमरूदो का बगीचा, एक तरफ खेत जो उस समय बाजरे से लहरा रहा था। सामने, कुछ ही दूर चलने पर सडक, आगे महिलाओं का छात्रावास। वाजपेयी जी उस समय एम० ए० फाइनल मे थे। और भी कई लडके आर्य-भवन मे रहते थे। दूसरे खुले दिलवाले लडकों से मालूम हुआ, आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल छायावाद की कविता और उनके कवियों का मजाक उड़ाते है, यह विद्यार्थियों को पसन्द नहीं, इसके जवाब मे यह व्याख्यान का ठाट बाँधा गया है, शुक्ल जी को वे खास तौर से इसका प्रतिपादन सुनाना चाहते है। लडकों की मडली मे खूब ताश खेले। कभी-कभी छः-छः घण्टे पार कर दिये। दो-तीन रोज पहले गया था। प्रसाद जी से मिला। उन्होंने व्याख्यान के दिन मुझे अपने यहाँ से ले चलने के लिए वाजपेयी जी से कहा। बात तै हो गयी। मैं प्रसाद जी के यहाँ चला आया। प्रसाद जी ने राय कृष्णदास जी की मोटर मँगा लिया और अपनी मण्डली लेकर यथा-समय चले। उस दिन उन्होंने इत्र से मुझे खूब सुवासित किया। मैंने व्याख्यान के नोट लिख लिये थे जो ऐन वक्त पर काम न दे सके, क्योंकि मैं भाव मे ऐसा डूबा था कि कागज पर निगाह डालता था तो कुछ दिखाई न पडता था। अच्छी उपस्थिति थी। पूज्य उपाध्याय जी सभापति के आसन पर समासीन थे, वाजपेयी और सोहनलाल जी कारवाई मे उनकी मदद कर रहे थे। छात्र-छात्राओं की अच्छी संख्या थी। सिर्फ़ प० रामचन्द्र शुक्ल न आये थे। मेरा भाषण लडकों को पसन्द आया। मैं उसे साधारण रूप से सफल हुई वक्तृता समझता हूँ। मुझे याद है, जब भी बोलते वक्त सभा की सामाजिकता का ख्याल न था, मैंने कहा था, तीसरे दर्जे का विद्यार्थी एम० ए० का कोर्स

क्या समझेगा ? रहस्यवाद और छायावाद की मूल धाराओं को समझने के लिए अध्ययन और मनन की आवश्यकता है—यह काव्य का ज्ञान-काड है। इस बात से उपाध्याय जी नाराज हो गये और भाषण के बीच मे आवश्यक कार्य की आड़ लेकर चले गये। उनके जाने पर वाजपेयी जी सभापति के आसन पर बैठे। वाजपेयी जी ने अपने भाषण मे छायावाद को विद्रोहात्मक काव्यधारा बताया और नूतनतर उत्थान के रूप मे उसकी व्याख्या की जो विद्यार्थियो को पसन्द आयी। सभा भले-भले समाप्त हुई।

एम० ए० का इम्तहान देकर वाजपेयी जी गॉव आये। मैं गॉव मे ही था। कभी वे मेरे गॉव आते थे, कभी मै उनके गाँव जाता था। एक दिन निश्चय हुआ, यहॉ एक पुस्तकालय कायम किया जाय। चूॅकि वाजपेयी जी का गॉव बडा है इसलिए उसी गॉव के लिए निश्चय हुआ। यह इरादा पहले मै पक्का कर चुका था, वाजपेयी जी के चाचा प० रामेश्वर जी वाजपेयी ( श्री आनन्द मोहन वाजपेयी एम० ए० के पिता ) से सभा हुई। स्थानीय सभासदों की सहानुभूति और सम्मति मिली। मैं शुरू से अदूरदर्शी था, आदर्शप्रियता मे पडकर कुछ किताबे, पत्र-पत्रिकाये और रुपये दिये, एक सज्जन ने भवन बनने तक अपनी बैठक मे पुस्तकालय के लिए जगह दी। काम जारी हो गया। लेकिन स्थानीय लोगो की वैसी सहानुभूति न मिली।

पुस्तकालय द्वारा आस-पास की जनता के लिए व्याख्यानों की योजना हुई जिसमे अनेक उपयुक्त विषयो पर मेरे और वाजपेयी जी के व्याख्यान हुआ करते थे। उनसे अच्छी जागृति आस-पास की जनता मे हो गयी थी।

इन्हीं दिनों बात-चीत करने पर मुझे मालूम हुआ, वाजपेयी जी साहित्य को ही अपने जीवन का ध्येय बनाना चाहते है। एक दिन इसी

आधार पर यह तै हुआ कि आचार्य द्विवेदी जी के यहाँ चला जाय। द्विवेदी जी का गाँव दौलतपुर वाजपेयी जी के गॉव, मगरायर से १७-१८ मील-पडता है। बैलगाड़ी पर चढकर हम लोग आचार्य द्विवेदी जी के दर्शनों के लिए चले। मुझ पर पहले द्विवेदी जी की बड़ी कृपा थी, बाद को मेरे 'मतवाला' मे चले जाने से और असमर्थित साहित्य की सृष्टि करने से, असन्तुष्ट हो गये थे लेकिन फिर भी उनक हृदय मे मेरे लिए स्नेह था। हम लोग कुछ चक्कर काटते आचार्य द्विवेदी जी के यहाँ, दौलत पुर पहुँचे।

उन्होंने वाजपेयी जी को बुलाया और पूछताछ करने लगे। ऐसे ढग से प्रश्न करते थे कि सुनकर बडा आनन्द आता था। एक-एक करके उन्होंने वाजपेयी जी के घर की कुल बाते मालूम कर लीं और इस नतीजे पर पहुँचे कि ये सम्पन्न है। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी मे और जो कुछ हो, बातचीत मे विपन्नता बिलकुल नहीं जाहिर होती, विद्यार्थी जीवन से ही 'न दैन्यं न पलायनम्' के वे प्रतीक है। फिर साहित्यिक वातचीत चली। वाजपेयी जी का सवा पाव का दिया जवाब, ध्वनि के साथ द्विवेदी जी को सवा सेर जँचता रहा। मैं बैठा आनन्द लेता रहा। द्विवेदी जी हिन्दी मे काम करने के प्रसग पर जो कुछ कहते थे वह प्राचीन व्यावहारिक दृष्टि से उत्तम होने पर भी सन् १९३९ ई० के शिक्षित व्यक्ति के लिए अग्राह्य हो तो खुशी की बात ही कहना चाहिए। १९२० ई० मे द्विवेदी जी ने मेरे लिए भी कई प्रयत्न किये थे, पर उनकी शिक्षा का निर्वाह मेरी शक्ति से बाहर की बात थी। पहर रात रहते हम लोग गाडी पर बैठकर गाँव चल दिये।

विश्वविद्यालय खुलने पर वाजपेयी जी काशी चले गये और आचार्य श्यामसुन्दर दास जी से मिलकर उनकी आज्ञा से रिसर्च करने लगे। एक वर्ष तक रिसर्च करने के बाद प० वेंकटेशनारायण

जी तिवारी के 'भारत' के सम्पादन कार्य से अलग होने पर वाजपेयी जी 'अर्द्ध-साप्ताहिक भारत' के सम्पादक हुए।

वाजपेयी जी नई आलोचना-शैली को जीवन देते हुए उसे इस तरह आगे बढाते है कि हिन्दी के ऊपर मौलिक साहित्य के उज्जीवन की तरह आलोचना अपने सच्चे अस्तित्व को आँखो से देखती है, अपनी सत्ता मे प्रतिष्ठित होकर साँस लेती है। वाजपेयी जी की समीक्षा मुख्यतः मनोवैज्ञानिक विवेचन पर आधारित है। इस विवेचन मे न केवल रचयिता की मनोवृत्ति की, बल्कि उसकी रचना के साहित्यिक सौष्ठव की भी परीक्षा हो जाती है। वाजपेयी जी की समीक्षा में साहित्य की सामाजिक और सास्कृतिक प्रेरक शक्तियो की भी उपेक्षा नहीं है।

'भारत' मे हिन्दी कवियो की वृहत्रयी उन्ही की निकाली हुई है। इस लेख का उद्धरण दूसरी जगह किया गया और आज भी विद्वान आलोचक इसका समर्थन करते है।

प्रेमचन्द और मैथिलीशरण की भी उन्होंने आलोचना की। हिन्दी मे एक तूफान-सा उठ खडा हुआ, पूरे एक आन्दोलन की सी सृष्टि हो गयी। पर आलोचक वाजपेयी अचल रहे। प्रेमचन्द जी से वाद-विवाद चला। इसमे भी वाजपेयी जी अपने विचार मे दृढ़ रहे। प्रेमचन्द जी बहुत उदार थे। उन्होंने वाजपेयी जी की सत्यता मान ली। जब उनके अन्तिम दिन थे—रोग-शैय्या पर पडे हुए थे, मैं वाजपेयी जी के साथ मिलने गया था, उस समय भी उन्होंने वाजपेयी जी की आलोचना की प्रशंसा की थी।

इस प्रकार लगभग तीन वर्ष तक अत्यन्त योग्यता पूर्वक 'भारत' द्वारा हिन्दी की सेवा करने के बाद इस पत्र से आपका सम्बन्ध-विच्छेद हुआ। यहाँ से चलकर, आप कुछ दिनों तक आचार्य श्याम सुन्दर-

दास जी के सहायक की हैसियत से 'हिन्दी भाषा और साहित्य' तथा 'साहित्यालोचन' के परिवर्धित संस्करण मे काम करते हैं। फिर 'सूर-सागर' का कई साल तक 'नागरी प्रचारिणी सभा' मे रहकर सम्पादन करते हैं। यह काम पूरा कर 'गीता प्रेस' जाते हैं और वहाँ रामचरित मानस का सम्पादन करते हैं। ये काम ऐसे हैं जिनसे वाजपेयी जी के नवीन और प्राचीन साहित्य के ज्ञान पर पूरा प्रकाश पडता है। १६२८ ई० से १६४१ तक उन्होंने अनेकानेक सार-गर्भ लेख लिखे है, जिनसे हिन्दी-साहित्य के भण्डार मे मूल्यवान रत्न आये हैं। साधारण और साहित्यिक जनों का आदर और विश्वास उन पर बढ़ा है। 'गीतिका' (निराला), 'कामायनी' (प्रसाद) 'काव्य और कला' (प्रसाद) तथा 'अपराजिता' (अचल) पुस्तकों की भूमिका और इन पर लेख लिखे। उनकी लिखी 'जयशकर प्रसाद', 'सूर सन्दर्भ' पुस्तके प्रकाशित हो चुकी है। 'हिन्दी-साहित्य—बीसवीं शताब्दी' पुस्तक मे द्विवेदी जी से प्रारम्भ कर अब तक के प्रमुख साहित्यिकों पर निबंध है। इनसे इस काल की रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है। 'साहित्य—एक अनुशीलन' मे साहित्य सम्बन्धी विचारात्मक लेख है। उनके और भी साहित्यिक उद्बोधन के कार्य है। यह सब देखने पर उनकी विशाल ज्ञानराशि और हिन्दी के प्राचीन एवं नवीन दोनों विभागों मे साधिकार प्रवेश का निर्णय हो जाता है। आपने 'द्विवेदी अभि-नन्दन ग्रथ' की प्रस्तावना जिस योग्यता से लिखी है उसकी प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जाता। वाजपेयी जी अकेले व्यक्ति अपने समय के है, जिन पर हिन्दी को सस्नेह गर्वानुभव है। उनके इन्हीं गुणों और कार्यों के कारण अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने साहित्य विभाग का उन्हें सभापति चुनकर सम्मानित किया। उनका निर्मित आदर्श और उनका ऊँचा दिया ज्ञान हिन्दी-भाषियों को

उठाने वाला है । वाजपेयी जी ने भारतीय और पाश्चात्य दर्शन-शास्त्र का मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया है । इस अध्ययन की छाप उनकी आलोचनाओं मे सब जगह है । राजनीतिक विचारों मे वे आरम्भ से ही गाधीवादी रहे है, यद्यपि आध्यात्मिक मान्यताओं मे वे गाँधी जी के आदर्शवाद की अपेक्षा विशुद्ध भारतीय या हिन्दू आदर्शवाद की ओर अधिक झुके है । राजनीतिक विचारों मे भी वाजपेयी जी गाँधीजी के अंधभक्त नहीं है। साहित्य मे आप स्वच्छता और सप्राणता के हामी है । प्रणाली और उद्देश्य मे दोनो शिष्टता और स्वास्थ्य चाहते है । साहित्य का वे समाज के प्रगतिशील उत्थान मे सक्रिय योग आवश्यक समझते है ।

# काव्य-साहित्य

मनुष्य-मन की श्रेष्ठ रचना काव्य है। विचार की ऊँची दृष्टि से उसकी निष्कलुषता तक पहुँचकर शब्द-ब्रह्म से उसका संयोग प्रत्यक्ष करने के पश्चात् यहाँ के लोगों ने उसे ब्राह्मी स्थिति करार दिया। अन्यान्य देश वालों ने भी तरह-तरह के तरीके इख्तियार कर एक अप्रत्यक्ष दिव्यशक्ति को ही काव्य के कारण के रूप से सिद्ध किया। काव्य मे यदि कोई कवि अपने व्यक्तित्व पर खास तौर से जोर देता हो, तो इसे उसका अक्षम्य अहंकार न समझ, मेरे विचार से, उसकी विशाल व्याप्ति का साधन समझना निरुपद्रव होगा। कारण, अहंकार को घटा कर मिटा देना जिस तरह पूर्ण व्याप्ति है—जैसा भक्त कवियों ने किया, उसी तरह खड़ा कर भूमा मे परिणत कर देना भी पूर्ण व्याप्ति है—जैसा ज्ञानियों ने किया। शंकर, कबीर, रवीन्द्रनाथ, गेटे बढ़ने वालों मे हैं और तुलसीदास, सूरदास तथा अपर भक्त कवि आदि अहंकार की भूमि से हटने वालो मे, दोनों जैसे एक ही शक्ति की अणिमा और द्राघिमा विभूति हों। काव्य के विचार के लिए,

भाषा, भाव, रस, अलंकार आदि आलोचक के लिए यथेष्ट शस्त्र हैं। विचार केवल काव्य का उचित है, न कि अन्य असंगत बातों का।

जिस तरह कवियो पर एक देशीयता के दोष लगाए जाते है, उसी तरह प्रायः अधिकाश आलोचक भी अपने ही विवर के व्याघ्र बने बैठे रहते हैं, अपनी ही दिशा के ऊँट बन कर चलते है। जैसे हिन्दी साहित्य की पृथ्वी पर अब ब्रजभाषा का प्रलय-पयोधि नहीं है, वह जलराशि बहुत दूर हट गयी, राष्ट्रभाषा के नाम से उससे जुदा एक दूसरी ही भाषा ने आँख खोल दी, पर 'धृतवानसि वेदम' के भक्तों की नजरों मे अभी यहाँ वही सागर उमड़ रहा है। नहीं मालूम 'बेवक्त की शहनाई' के और क्या अर्थ हैं। एक समस्या पर ५२ जिले के कवि ढेर हो जाते है।

ऐसे आलोचक प्रायः सभी देशों मे रहते है। हिन्दी तो अभी बालिका है, इसकी इज्ज़त नही की जाती तो न की जाय, समय उसके सेवकों को और बडा पुरस्कार देगा। अंगरेजी, जिसके प्रताप का सूर्य कभी अस्त होता ही नहीं, ऐसे सदाशयों से खाली नहीं। टामस हार्डी अभी उस दिन मरे हैं। तब भी साहित्य की पताका इसी तरह आकाश मे फहरा रही थी। पर तिरस्कार के प्रति हार्डी कहते है—

"हंसो, मजाक करो, फिर भी मैं किसी महान् आत्मा से प्रार्थना करता जाऊँगा जो कदाचित् मानसिक दुःखों को अभी प्रभा से चकित कर हटा सकती है।"

बंगाल में जब रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा की किरणें सत्साहित्यिकों के हृदय के कमलों को खोल रही थीं, और सब लोग उनकी

प्रशसा करने लगे थे, उस समय कितना विरोध हुआ था ? रवीन्द्रनाथ ने एक पद्य मे इसकी कैफियत दी थी। उसमे उनके कवि-हृदय का काव्य-स्रोत ही फूट पड़ा है—

**अश्रु झलिछे शिशिरेर मत, पोहाई ये दुख-रात।**

'ये आँसू है, मित्र, ( शब्द नही ) जो ओस-कणों की तरह दुःख की रात पार कर अब चमक रहे हैं।'

**जान कि बन्धु, उठियाछे गीत कतो व्यथा भेदकरि।**

( हे मित्र, क्या तुम जानते हो, ये गीत कितनी व्यथा पार कर निकले है ? )

एक दिन सुमित्रानन्दन को भी आलोचनाओं से घबराकर भवभूति की तरह दृप्त भाषा मे लिखना पड़ा था—

**न पिक-प्रतिभा का कर अभिमान,**
**मनन कर मनन, शकुनि नादान।**

गोस्वामी तुलसीदास को इन आलोचकों से कम घबराहट न थी—

**भाषा-भनत मोरि मति थोरी। हँसिवे जोग हँसे नहिं खोरी।**

जरा सोचिये तो, समालोचको की किस वृत्ति का इन पक्तियों से परिचय मिलता है। श्रीहर्ष के मामा ने कहा, मैंने काव्य के दोष-दर्शन के लिए व्यर्थ ही इतना परिश्रम किया, तुम्हारे नैषध मे सब दोष एकत्र मिल जाते है। और यह वह नैषध है, संस्कृत-साहित्य मे जिसकी जोड़ का दूसरा ग्रथ है ही नहीं, जिसके उदय से किरातार्जुनीय और शिशुपाल-वध-जैसे महाकाव्यों की प्रतिभा मन्द पड़ गयी। आलोचको की कृपा जिन पर नहीं हुई, ऐसे भाग्यवान् कवि ससार मे थोड़े ही होंगे।

जिन तीन साहित्य महारथियों का मैं जिक्र कर चुका हूँ, प्रेमचन्द्र जी, प्रसादजी और पन्त जी, वे कृति तैयार करने वाले है, उनकी आलोचनायें कैसी भी हों, वे आलोचनाओं से पहले है, पीछे नहीं। आज भी हिन्दी साहित्य के व्याकरण की निन्दा होती है, महात्मा गाँधी जैसे श्रेष्ठ मनुष्य का कहना है कि यू० पी० वालों की भाषा ठीक नहीं होती—अगर कोई ऐसे है, तो महात्मा जी को इसका ज्ञान नहीं, पर इससे हिन्दी-साहित्य की प्रगति रुक नहीं रही, और भाषा के व्याकरण पर दोष देने वालों की दिक्कते भी बामुहाविरा हिन्दी लिखने वाले यू० पी० के बडे-बड़े साहित्यिकों को, जिन्हे अपर दो-एक साहित्यों के व्याकरण का भी ज्ञान है, मालूम हो जाती है। इसके कारण के लिखने की यहाँ जगह नहीं। मैं सिर्फ यही कहूँगा कि जिस तरह व्याकरण भाषा का अनुगामी है, समालोचक उसी तरह कृति का। कृति की दुर्दशा करके, यदि उस कृति के फूल खुले है और उनमे सुगध है, समालोचक अपना जितना भी ज़बरदस्त ठाट खड़ा कर दे, वह कभी टिक नहीं सकता। इसलिए समालोचक को कृति के साथ ही रहना चाहिए।

प० रामचन्द्र शुक्ल की 'काव्य मे रहस्यवाद' पुस्तक उनकी आलोचना से पहले उनके अहकार, हठ, मिथ्याभिमान, गुरुडम तथा रहस्यवादी या छायावादी कवि कहलाने वालों के प्रति उनकी अपार घृणा सूचित करती है। ऐसे दुर्वासा समालोचक कभी भी किसी कृति-शकुतला का कुछ बिगाड़ नहीं सके, अपने शाप से उसे और चमका दिया है।

फूल का मुख्य गुण है, उसकी सुगध, कृति का मुख्य गुण है उसकी रोचकता, पर जिस तरह चीनियों को घी मे बदबू मिलती है और सोडे मे डुबोकर जीते हुए तिलचट्टे खाने मे स्वाद, उसी तरह

यदि पूर्वोक्त जैसे कृतिकारो की रचनाएँ किसी को रुचिकर प्रतीत न हो और गुणों की गणना से दोषों की संख्या बढ़ रही हो, तो सन्देह उन्हीं की रुचि। योग्यता पर होगा, जो एक हिन्दुस्तानी चीज़ को अंग्रेजी चीज ( Cheese पनीर ) बना डालते है। (कहते है पनीर मे कीडे पड जाते है—सडकर बदबू आने लगती है, वह खाने मे ज्यादा स्वाददार समझी जाती है, कारण, कीडे कुछ मीठे होते है। ) दूसरा कारण यह भी है कि 'उग्र' जी की कृति पढकर समालोचक अपनी आलोचना की तोप मे बर्नार्ड शा, डी० एल० राय और रोमे रोलाँ को भर कर दागते है। 'उग्र' जी भी बर्नार्ड शा होते यदि आप का समाज अंग्रेजो की तरह शिक्षा तथा सभ्यता की उतनी ही सीढियाँ तय किये होता। रही बात योग्यता की, सो 'उग्र' जी की योग्यता का पता लगाने से पहिले बर्नार्ड शा की ही योग्यता का पता लगा कर बतलाइये कि वह किस विश्वविद्यालय से होकर निकले है, जो यह फिलासफी छाँट रहे है और कहाँ के वह साहित्य के डाक्टर हैं, जो नोबुल पुरस्कार प्राप्त कर लिया। जैसे उनके लिए अंग्रेजी सुगम है, वैसे ही 'उग्र' के लिए हिन्दी, उनके अंग्रेजी के चित्र, अंग्रेज-समाज के परिचायक है, 'उग्र' जी के हिन्दी के चित्र हिन्दी-समाज के परिचायक। आपको अच्छा न लगे तो, चीन या विलायत चले जाइए। यहाँ क्यों व्यर्थ की बदबू मे सड रहे है।

'तुम्हारी कृति सौंदर्य—किरीटिनी हो, तुम्हारा जीवन सप्रेम, तुम्हारा मन सत्य के साथ ऊपर ईश्वर तक चढा हुआ हो, जिसके लिए सब कुछ है, जिससे सब शुरू हुआ, जिसमे सब सौंदर्य, सत्य और प्रेम एक है।'

सत्य या ईश्वर ही वह रग है, जो रस के रूप से कृतिकार की आत्मा के भावों की तरंग को पाठक की आत्मा से मिला देता है।

अनेक प्राणों मे एक ही प्रकार की सहानुभूति, एक ही मधुर राग बज उठता है। 'विजेज' के ये भाव भारत के हृदय मे चिरतन सत्य की प्रतिष्ठा पा रहे है'। इन पक्तियों मे सत्य का जो सूत्र है, उससे भारत और इग्लैड बँधा हुआ है। दोनों आत्माएँ एक हैं, जातिगत कोई भी वैषम्य यहाँ नहीं। प्रिया के चित्र का कितनी खूबसूरती से कविवर विलियम शेक्सपियर खींचते है। देखिए :

'मेरी आँखों ने चित्रकार का काम किया। तुम्हारे सौदर्य की तस्वीर मेरे हृदय की मेज पर रख दी। मेरा शरीर उसका साँचा है, जिसके अन्दर वह रखी है। शीशे के अन्दर देख पड़ती हुई सी वह सर्वश्रेष्ठ चित्रकार की कला है, क्योंकि उस चित्रकार के भीतर से तुम अवश्य उसकी कुशलता प्रत्यक्ष कर लोगी। तुम समझ लोगी, कहाँ तुम्हारी सच्ची मूर्ति खिंची हुई रखी है। वह तस्वीर मेरे हृदय की दुकान मे निस्तब्ध लटक रही है, जिसे देखने के झरोखे तुम्हारी हेरती हुई आँखे है। अब देखो कि आँखो ने आँखों को कैसा बदला दिया। मेरी आँखों ने तुम्हारी तस्वीर खींच ली, और तुम्हारी आँखे मेरे लिए मेरे हृदय की खिडकियाँ है।' कितना कमाल है—

> लोचन-मगु रामहिं उर आनी
> दीन्हे पलक-कपाट सयानी।

मे स्नेह का प्रकाश तो है, पर इतना बड़ा सौदर्य अवश्य नहीं। क्या इस तरह के भाव को, यदि इसके दो-एक कारण—जैसे मेज का उल्लेख, हटा दिये जाँय, तो क्या किसी भारतीय के लिए अपनी चीज कहने मे कोई असुविधा हो सकती है? इस प्रकार की एक उक्ति और याद आयी—

**नैन झरोखे बैठि के, सब को मुजरा लेय**
**जाकी जैसी चाकरी, ताको तैसो देय।**

भावो की उच्चता पर कुछ भी नहीं कहना, पर कला की जो खूबसूरती शेक्सपियर मे है, वह इसमे भी नहीं। इस तरह के भाव—'तेरे नैनन-झरोखे बीच झॉकता सो कौन है', अनेक लड़ियो मे गुथे हुए मिलते है। हिन्दी मे कहीं मैंने शेक्सपियर की-सी उक्ति पढ़ी है, मुझे स्मरण नहीं। प्रिया और प्रियतम के स्नेह का आदान-प्रदान इस तरह की उक्तियों से बढ़ा दिया जाता है, इसलिए सासारिक दृष्टि से इस कला को बहुत बडा महत्व प्राप्त है।

'हे धीर कुमारी, मुझे तुम्हारे चुम्बनों से भय है, पर तुम्हे मेरे चुम्बनों से नहीं घबराना चाहिए क्योंकि मेरी शक्ति इतनी दबी हुई है कि वह तुम्हारी शक्ति का भार नहीं सँभाल सकती।'

'मैं तुम्हारी छवि, वाणी और गति से डरता हूँ, पर तुम्हे मेरी चेष्टाओं से नही डरना चाहिए, क्यों? हृदय के जिस अर्घ्य से मैं तुम्हे पूजता हूँ, वह निर्दोष है।'

शेली की इन पक्तियों मे, कविता-कुमारी का साधना कर वह कितना कोमल बन गया था इसका प्रमाण मिल जाता है। प्रायः कवियो को हम कुमारियों की पूजा भी करते हुए, अनेक प्रकार की स्तुतियो से उन्हे प्रसन्न करते हुए देखते है। पर शेली अपनी सुन्दरी कुमारी की छवि, शब्द तथा गति से भी डरता है, जैसे कुमारो की गति से उसी के सुकुमार प्राण काँप उठते हो—इतनी कोमलता।

कल्पनामय, शब्दों मे प्राजल रवीन्द्रनाथ—

**अलख निरंजन—महारव उठे बंधन टुटे, करे भय भंजन।**
**वक्षेर पाशे घन उल्लासे असि बाजे झंझन।**

**पंजाब आजि उठि ले गरजि—'अलख निरंजन' ?**
**ऐस छेसे एक दिन, लक्ष पराणे शंका ना जाने, ना राखे**
**काहारो ऋण ।**

**जीवन मृत्यु पायेर भृत्य, चित्त भावना हीन ।**
**पंच नदीर घिरि दशतीर एसे छे से एक दिन ।**
**दिल्ली-प्रासाद कुटे होथा बार-बार बादशाजादार तंद्रा जेते छे छूटे ।**
**कादेर कंठे गगन मंथे निविड निशीथ टूटे ।**
**का देर मशाले आकाशेर भाले, आगुन जैसे छे फुटे ।**

"अलख निरजन" महान् रव उठता, बधन टूट जाते, भय दूर हो जाता है। कटि मे सोल्लास, आसि झन-झन बज रही है। आज पजाब अलख निरजन गरज उठा।

"वह भी एक दिन था जब लाखों प्राण शका नहीं जानते थे। किसी का ऋण नहीं रखते थे। जीवन और मृत्यु पैरों के भृत्य से थे, चित्त चिन्ता से रहित। पाँचों नदियो के दसो तट घेर कर वह भी एक दिन आया था। दिल्ली के प्रासाद कोट बार-बार शाहजादे की आँख खुल रही है। आधीरात के स्तब्ध आकाश को मथता हुआ यह किसका कठ है—आकाश के भाल पर फूटती हुई यह किनके मशालों की आग है।"

कल्पना, चित्रण तथा ओज एक ही पद्य मे मिल जाता है। पढ़कर हृदय की काव्य-तृष्णा मिट जाती है। हिन्दी मे यदि चारो ओर से परकोटा घेरकर अन्य देशों तथा अन्य जातियों की भावशक्ति रोक रखी गयी तो इस व्यापक साहित्य के युग मे हिन्दी के भाग्य किसी तरह भी नहीं चमक सकते और उसके साहित्य मे महाकवि तथा बड़े-बडे साहित्यिकों के आने की जगह चिरकाल तक 'बनी रहे—बनी

रहे' होता रहेगा। पुराना साहित्य हिन्दी का अच्छा था पर नया और अच्छा होगा, इस दृष्टि से उसकी साधना की जायगी। पुराने साहित्य का जितना दायरा था, नये का उससे बहुत अधिक बढ़ गया है। जो लोग ब्रजभाषा के प्रेमी है, उनसे किसी को व्यक्तिगत द्वेष नहीं, जब तक वे हिन्दी की नवीन सस्कृति के बाधक नहीं बनते। पर जब वे अकारण हिन्दी की नवीन कृतियों को नीचा दिखाने पर तुल जाते हैं, प्रायः ब्रजभाषा की श्रेष्ठता जाहिर करने के लिए, तब उनकी इस रुचि की वजह से उन्हे प्रयत्न करके साहित्य के व्यापक मैदान से हटा देना चाहिए। उनके द्वारा साहित्य का उपकार नहीं हो सकता। वे तो सिर्फ मनोरजन के लिए काव्य-साधना करते है, किसी उत्तर-दायित्व को लेकर नही, उनकी आँखों मे दूर तक फैली निगाह नहीं है। वे अपने ही घर को संसार की हद समझते है। साहित्यिक प्रतिस्पर्धा क्या है, अपर साहित्यों से भावों के आदान-प्रदान के लिए कैसी शिष्टता, कितनी उदारता होनी चाहिए, किस-किस प्रकार के भावों से अपना प्रकृतिगत स्वभाव बना लेना चाहिए, वे नहीं जानते। कौन से भाव सार्वजनीन है और कौन से एकदेशीय, उन्हे पता नहीं, चिरकाल से एक ही समाज के चित्र देखते-देखते उनकी रुचि उन्हीं के अनुसार बन गयी, वे उसे बदल नहीं सकते और जब बदली हुई कोई अच्छी भी रुचि उनके सामने रखी जाती है तब अपनी अपार भारतीय सस्कृति को दाहाई देकर उसे देश-निकाला देने पर तुल जाते है। पर यदि उनसे पूछा जाता है कि वे किसी भी एक कायदे का बयान करे, जो उनकी चिरंतन भारतीय संस्कृति हो और जिस ढंग की सस्कृति दूसरे देशों मे न हो, तो महाशयगण उत्तर देने की जगह दुश्मन की तरह देखने लगते है। कोट के सामने आधुनिक मिर्जई की प्राचीनता-भक्ति की तरह उसके पहनने वाले यदि विचारपूर्वक

देखेंगे, तो मिर्जई भी उनकी सनातन पोशाक ठहरेगी। एक बार बनारस मे अपनी गुर्जरी पवित्रता की व्याख्या करते हुए मेरे एक मित्र ने कहा, हम लोग पीताम्बर पहनकर खाते है। इस बीसवीं सदी मे उनका पीताम्बर-धर दिव्य रूप ऑखो के सामने आया तो बड़ी मुश्किल से हँसी रोकना पड़ा, जैसे आजकल के वकीलों का झब्बा देखकर अकस्मात जटायु की याद आ जाती है। मैंने मन ही मन कहा, पहले के आदमी पीताम्बर पहन कर भोजन करते थे या दिगम्बर होकर, यह सब बतलाना बहुत कठिन है। पर अगर जरा अक्ल का सहारा लिया जाय तो दिगम्बर रहना ही विशेष रूप से सनातन धर्म जान पड़ता है। कारण सनातन पुरुष के बहुत बाद ही कपड़े का आविष्कार हुआ होगा और इस प्रथा को माननेवाले सिद्ध नागे महाराजो की इस समय भी कमी नहीं। अस्तु, अभिप्राय यह है कि भारतीयता के नाम पर जिस कट्टरता तथा सीमित भावो और कार्यों का प्रचार किया जाता है, रक्षा की जाती है, वह अस्तित्व को क़ायम रखने की जगह नष्ट ही करती है। अस्तित्व तो व्याप्ति ही से रह सकता है। यहाँ का सनातन धर्म व्याप्ति है भी।

देखने के लिए जो दो-चार उद्धरण दिये गये है, उनमे उच्चतम वेदान्त वाक्य से लेकर शृंगार के अत्यन्त आधुनिक चित्र तक हैं, पर वे अभारतीय होकर भी भारतीय हैं। कारण उनमे प्रकाश तथा जीवन है। जो भाव या चित्र किसी देश की विशेषता सूचित करते है, वे उतने अंश मे एकदेशीय है। पर जहाँ मनुष्य-मन के आदान-प्रदान है, वहाँ वह व्यापक साहित्य ही है। सिर्फ उसके उपकरण अलग-अलग होते हैं। शेक्सपियर की नायिकाओं के परिच्छद एकदेशीय हो सकते है, पर उनकी आत्मा, प्यार, भाव व्यापक है। पश्चिम के लिए जिस तरह यहाँ के भावों की गहनता, त्याग, सतीत्व की शिक्षा

आवश्यक है, उसी तरह वहाँ के प्रेम की स्वच्छता, तरलता, उच्छ्वसित वेग यहाँ वालो के लिए ज़रूरी है। इस समय वहाँ वालों का खूनी प्रेम भी शक्ति संचार के लिए यहाँ आवश्यक हो गया है। यह है आसुरी, राक्षसी गुण अवश्य, पर कभी-कभी दुर्बल देवताओं मे राक्षस ही प्रबल होकर बल पहुँचाते है, और कभी देवताओं के नायक विष्णु भी सती असुर-पत्नी का सतीत्व नष्ट करते हुए नहीं हिचकते। हिन्दी के भारतीय लोगो ने 'तुलसी' की कथा पढ़ी होगी। यहाँ के साहित्य मे मद्यपान बहुत कम है, पर वेदों मे मादक सोमरस की जैसी महिमा है, प्रायः सभी लोग जानते है, और मद्य के प्रचार का कहना क्या? जिस गुजरात मे अब ताडी के पेड कट रहे है, वहीं पर द्वापर मे अवतार-श्रेष्ठ श्रीकृष्ण जी के वशज यादवों ने शराब पीकर एक ही दिन मे अपना सहार कर लिया था। शायद शराब का ऐसा रोचक इतिहास मध्य योरप भी नहीं दे सकता। शराब अच्छी भी है और बुरी भी अवश्य। यहाँ मैं देश-प्रेम की बात नहीं कर रहा हूँ। साहित्य की शराब मुझे तो अत्यन्त रुचिकर जान पड़ती है और बिना विचार के इसे भारतीय कर लेने की इच्छा होती है। किसी मुसलमान विद्वान ने कहा था, योरप शराब से डूबा हुआ है, पर कहीं के धर्म से भी शराब की तारीफ न करने वाले एशिया ने शराब की कविताओं से योरप को मात कर दिया। शराब से सख्त नफरत करने वाले कितने ही पंडितों को मैं जानता हूँ, जिन्हे दवा के रूप से ब्रांडी दी गयी और वे बिना शिखा हिलाए पी गये। सुना है यदि दवा के तौर पर प्रतिदिन थोडी-सी शराब पी जाय, तो स्वास्थ्य को निहायत फ़ायदा पहुँचाती है। यों तो मैं जानता हूँ, हर खाद्य पहले पेट मे पहुँचकर शराब बनता है और नशा पहुँचाता है, उसी के रासायनिक अनेक रूप मे शरीर की जीवनी शक्ति बनते है। नशे की

नींद के बाद ही जागरण का आनन्द मिलता है और जागरण की जरूरत के साथ नींद की भी आवश्यकता सिद्ध होती है। इसी तरह उन दिव्य भारतीयों को कुछ प्रसन्न करने के लिए असुर शराबी भाव भी आवश्यक है। पर देश के साहित्यिक सुधारपथी नेतागण अवश्य इसके खिलाफ विद्रोह खड़ाकर मेरी स्त्री की तरह दिव्यता का परिचय देंगे।

यहाँ जरा अपनी धर्मपत्नी की दिव्यता का परिचय दे लूँ। खेद है कि अपनी दिव्यता के कारण ही वह इस समय दिव्यधामवासिनी हो रही। पडितो ने मेरा और उनका संबध पत्रा देखकर जोड़ा था, मुझे और उन्हे देखकर नही इसलिए विवाह के पश्चात् मेरी और उनकी प्रकृति वैसे ही मिली, जैसे पडितों की पोथियों के पत्र एक-दूसरे से मिले रहते है। वह अखड भारतीय थीं और मैं प्रत्यक्ष राक्षस—रोज मास खाता था। उन्होने मुझे विश्राम सागर, पद्म-पुराण, शिव पुराण और न जाने कौन-कौन से ग्रथ, गुटके और पाद टिप्पणियाँ दिखलाकर कहा, इससे बडा पाप होता है, तुम मास खाना छोड दो। तब मैं कुछ मूर्ख था और वह मुझमे हिन्दी में ज्यादा पडित थीं। मास से कितनी भयंकर सजा मिलती है, उसके जो चित्र उन्होंने दिखलाये, उनके स्मरण-मात्र से मेरे प्राण सूख जाते। कुछ दिनों तक मैंने मास खाना छोड दिया। तब मेरा स्वास्थ्य भी मुझे छोडने लगा। स्वास्थ्य की चिन्ता तो होती थी पर यमदण्ड के भय के सामने स्वास्थ्य का विचार न चलता था। मेरी पत्नी को मेरे स्वा-स्थ्य का भय न था, जितनी प्रसन्नता मेरे मास छोड़कर भारतीय बन जाने की थी। धीरे-धीरे सूख कर काँटा हो गया। एक दिन नहाने के लिए जा रहा था, कुएँ पर मेरे एक पूज्य वृद्ध ब्राह्मण मिले। मुझे देखकर बडे तअज्जुब मे आये। पूछा, 'तुम क्या हो गये?' मैंने कहा,

'मास छोड़ दिया, इसलिए दुबला हो गया हूँ।' उन्होंने कहा, 'तो मास क्यों छोडा ?' मैंने कहा, 'विश्राम सागर में लिखा है, बड़ा पाप होता है, मरने पर मासाहारी को यमदूत बड़ा दंड देते हैं।' उन्होंने पूछा, 'तुमने अपनी इच्छा से छोड़ा या किसी के कहने पर ?' मैंने सचसच बतला दिया। उन्होंने कहा, 'तो तुम फिर खाओ, कनवजियों को पाप नहीं होता, उनको वरदान है।' मैंने पूछा, 'कहीं लिखा भी है।' उन्होंने कहा,' हाँ है क्यों नहीं ? वशावली मे लिखा है।'

मुझे वैसी प्रसन्नता आज तक कभी नहीं हुई। पत्नी पर बड़ा गुस्सा आया। उनसे तो मैंने कुछ भी न कहा, शाम को बाजार से आधा सेर मास तौला लाया। मकान मे लाकर रखा तो श्रीमती जी दंग। उस समय मेरे घर के और लोग विदेश मे थे। श्रीमती जी रूमाल मे खून के धब्बे देखकर समझ गयीं, पूछा, यह क्या है ? मैंने कहा, 'मास।' 'तो क्या फिर खाओगे ?' मैंने कहा, 'हाँ, हमे वरदान है।' श्रीमती जी हँसने लगीं, पूछा—'कहाँ मिला यह वरदान ?' 'हमारे पूर्वजों को मिला है, वंशावली मे देख लो, तुम्हे विश्वास न हो तो।' श्रीमती जी ने कहा, 'खुद पकाते हो ही, अपने मास वाले बरतन अलग कर लो, और जिस रोज़ मास खाओ, उस रोज न मुझे छुओ और न घर के और बरतन, और तीन रोज तक कच्चे घडे नहीं छूने पाओगे।' मैंने कहा, इस समय तो रोज खाने का विचार हैं, क्योकि पिछली कसर पूरी कर लेनी है।' उन्होंने कहा, 'तो मुझे मेरे मायके छोड आओ।' मैंने कहा, 'लिख दो कोई ले जाय, नहीं तो नाई भेज दो, किसी को बुला लावे, मैं जहाँ मास पकाता हूँ, वहीं दो रोटियाँ भी ठोंक लूँगा।' श्रीमती जी चली गयीं। पत्रा-प्रेम इसी तरह तीन-चार साल कटा। चार महीने मेरे यहाँ रहतीं, आठ महीने मायके। अन्तिम बार मायके मे इफ्लुएञ्ज़ा के साल, उन्हें भी इफ्लुएञ्ज़ा हुआ।

तब मैं बंगाल मे था। मेरे पास तार गया। जब मैं आया तब महाप्रयाण हो चुका था। कस्बे के डाक्टर मेरे परिचित मित्र थे। उनसे मिला तो अफसोस करने लगे। कहा, 'फेफडे कफ़ से जकड़ गये थे, प्यास ज्यादा थी, मैंने पानी की जगह अखनी पिलाने के लिए कहा, वैसे ही डाक्टरी दवा भी देने के लिए पूछा, उन्होंने इन्कार कर दिया, कहा, दस बार नहीं मरना है।' इस दिव्यभावना ने अगर कुछ भी मेरे साथ सहयोग किया होता, तो शायद यह अकाल मृत्यु न हुई होती और जीवन भी कुछ सुखमय रहता।

इस तरह साहित्य को जीवित रखने के लिए उसमे अनेक भाव, अनेक चित्रों का रहना आवश्यक है और जब कि अपने-अपने स्थान पर सभी भाव आनन्दप्रद है और जीवन पैदा करने वाले है। व्यापक साहित्य किसी खास सम्प्रदाय का साहित्य नहीं। शराब, कबाब, नायिका, निर्जन साज और सगीत के कवि उमरख़ैयाम की इज्जत साहित्य-संसार के लोग जानते है। ग़ालिब मशहूर शराबी थे पर उनकी कृति कितनी सुन्दर है। व्यापक भावों मे कवि रवीन्द्रनाथ ने भी इससे फायदा उठाया—

**कालि मधु यामिनी ने ज्योत्स्ना निशीथे कुंज कानने सुखे**
**फेनिलोच्छल यौवन-सुरा धरेछि तोमार मुखे।**
**तुमी चेये मोर आँखी परे धीरे पात्र लयेछ करे**
**हेसे करियाछ पान चुम्बन भरा सरस बिम्बाधरे**
**कालि मधुयामिनीते ज्योत्स्ना निशीथे मधुर आवेश-भरे ॥**

( कल वसन्त ज्योत्स्ना की अर्ध-रात्रि को सुख से बगीचे के कुंज मे छलकती हुई फेनिल यौवन की सुरा मैंने तुम्हारे मुख पर रखा था। तुमने मेरी आँखो की ओर देखकर धीरे से पात्र (प्याला) हाथ में

ले लिया, और हँस कर चुम्बनों से खिले हुए सरस बिम्बाधरों से मधुर आवेश मे आ, पी गयी।)

यहाँ रवीन्द्रनाथ से एक बड़ी गलती हो गयी है। पहले उन्होंने 'यौवन-सुरा' लिखकर सुरा के यथार्थ भाव मे परिवर्तन करना चाहा था। वहाँ उन्होंने तरगित यौवन को ही सुरा बनाया है। पर अंत तक नहीं पहुँच सके क्योंकि अत मे उनकी प्रिया की जो क्रिया है वह सुरा पीने का ही है, यौवन-सुरा पीने की नहीं, विदेशी भावों को लेते समय जरा होश दुरुस्त रखना चाहिए। मुसलमानी सभ्यता के कवि इस कला मे एकछत्र सम्राट है। एक जगह और रवीन्द्रनाथ ने लिखा है—

**दुःख सुखेर लक्ष धराय पात्र भरिया दियाछि तोमाय,**
**निठुर पीडने निगाडि वक्ष दलित द्राक्षा सम।**

(दुःख और सुख की लाखों धाराओ से मैंने तुम्हारा प्याला भर दिया है—अपने वक्ष को निष्ठुर पीड़नों से दलित द्राक्षा की तरह निचोड़-निचोड़ कर।)

'दलित-द्राक्षा' का भाव उमर खैय्याम का है। सुरा की कविताओं मे मुसलमानों ने कमाल कर दिया कि मयखाने को मसजिद से बढ़ कर बतला दिया और पाठकों को पढकर आनन्द आता है।

**दूर से आये थे साकी सुनके मयख़ाने को हम।**
**बस तरसते ही चले अफसोस पैमाने को हम।**

यहाँ मयख़ाना मदिर और पैमाना अमृत का कटोरा है।

**मय भी है, मीना भी है, साग़र भी है, साक़ी नही।**
**दिल में आता है लगा दे आग मयख़ाने को हम।**

यहाँ साकी अमृत पिलाने वाला गुरु है। इस तरह शराब के लक्ष्य से बड़ी-बड़ी बाते कह दी गयी है। उर्दू-साहित्य की काफी निन्दा परवर्ती काल के सुधारकों ने की है। पर यह प्रायः सब लोग मानते है कि पहले की शायरी का आनन्द दुष्प्राप्य है।

**किस्मत को देखिए कि कहाँ टूटी जा क़मंद।**
**दो चार हाथ जब कि लबे बाम रह गया।**

असफलता की कितने सुन्दर सरस ढग से वर्णना की, सफलता तक पहुँचा कर असफल कर दिया।

हमारे काव्य-साहित्य की दृष्टि बहुत व्यापक होनी चाहिए। तभी उसका कल्याण हो सकता है। पश्चिमी कवियों के हृदय मे पूर्व के लिए अपार सहानुभूति उमड़ चली थी। उनका यही साहित्य पौरुष तथा प्रेम आज संसार भर मे फैला हुआ है। वर्ड्स्वर्थ और उनके मित्र कालरिज ने पूर्व का वर्णन किया है। इधर डेढ़ सौ वर्ष मे पश्चिमी सभ्यता का वैज्ञानिक चमत्कार कहाँ तक पहुँचा है, इसका हिन्दी-भाषियों को भी यथेष्ट ज्ञान है।

इग्लैंड के कवियों मे पूर्व के साथ शेली का प्रगाढ़ प्रेम देख पड़ता है। पूर्व के रहस्यवादियो तथा सन्तो को वह चाव से याद करता है। ब्रह्म, शिव और बुद्ध भी उसकी रचना मे हैं। कीट्स भी पूर्व की छवि से मुग्ध है। भारत का उल्लेख उसने भी किया है। भारत के अमर स्नेह मे डूबा हुआ है। पूर्व-देशो का इनमे सबसे ज्यादा ज्ञान बायरन को था। उसने तुर्किस्तान की सैर भी की थी और इस तरह काव्य मे अपना प्रत्यक्ष अनुभव लिखा है जिससे उसकी वे रचनाएँ और भी महत्वपूर्ण हो गयी है। अनेक रचनाएँ उसके भ्रमण के कारण साहित्य को मिलीं। नैपोलियन की उसने तैमूर से तुलना

की। टेनीसन ने भी पूर्व पर काव्य लिखे। टेनीसन फारस के सौंदर्य पर मुग्ध था। परन्तु फिर भी पूर्व पर टेनीसन की बहुत श्रद्धा न थी।

यह सब पूर्व के लिए इंग्लैंड का पद्य-प्रवाह है। पर हमारे साहित्य मे क्या हो रहा है—यह भारतीय है, यह अभारतीय, असंस्कृत। नस-नस मे शरारत भरी, हजार वर्ष से सलाम ठोंकते-ठोंकते नाक मे दम हो गया और अभी संस्कृति लिये फिरते है।

सबसे बडी आफ़त ढा रहे है कुछ साहित्यिक सुधार-पथी, जो स्वय तो कुछ लिख नहीं सकते, दूसरों की कृति पर हमला करके महा लेखक बन जाना चाहते है। सुधार और प्रोपागडा से साहित्य मजिलों दूर है। 'प्रसाद' जी की जैसी समालोचना निकली है, जैसा दोष भाषा-क्लिष्टता का बनारसीदास जी ने उन पर लगाया है, वह यदि वास्तव मे मनुष्योचित शौर्य तथा पर्यवेक्षण के साथ आलोचनाएँ करते है तो मैं उनसे कहूँगा, आप डी० एल० राय के ऐतिहासिक नाटको को पढिए, फिर देखिए नव साल की बच्ची और दो रुपट्टी का नौकर, गज-गज भर के समस्त पद बोलते है या नहीं और यह देखकर यदि अभी तक आप आँख मूँद कर ही राय महोदय के पीछे-पीछे चलते आए हों, एक वैसा ही नोट जैसा 'प्रसाद' जी की भाषा के सम्बन्ध मे लिखा है, उसी लहजे मे लिख कर 'माडर्न रिव्यू' मे छपवा दे, तो मै आपकी इस आलोचना को आपकी मर्यादा के योग्य समझूँगा। अवश्य यहाँ प्रत्यालोचन की जगह नहीं। समय मिला तो अन्यत्र लिखूँगा। आलोचकों ने वरदान से 'प्रसाद' जी को शाप ही अधिक दिया है, जो एक बहुत बडे साहित्यिक अन्याय मे दाखिल है। आलोचकों ने अपने को जितना बडा समझदार समझ लिया है, यदि कुछ हद तक प्रसाद जी को भी उसी कोटि मे रखते तो इतनी बड़ी त्रुटि न होती।

साहित्य मे अनेक दृष्टियों का एक साथ रहना आवश्यक है, नहीं तो दिग्भ्रम होने का डर है। इसीलिए मैंने तमाम भावों को एक साथ पूजा करने का समर्थन किया। हिन्दी के साहित्यिकों का अन्याय सीमा को पार कर जाता है। उन्हे अपनी सूझ के सामने दूसरे सूझते ही नहीं। हमे उनकी आँख मे उँगली कर करके समझाना है और बहुत शीघ्र वैसे सकीर्ण विचारवालो को साहित्य के उत्तरदायी पद से हटाकर अलग कर देना है। तभी साहित्य का नवीन पौधा प्रकाश की ओर बढ सकेगा। हमे अपने साहित्य का उद्देश्य सार्वभौमिक करना है, सकीर्ण एकदेशीय नहीं। राष्ट्रभाषा को राष्ट्रभाषा के रूप से सजाना और अलकृत करना है।

# कला और देवियाँ

समुद्र-मंथन की बात प्रायः सभी को मालूम है। वह केवल एक रूपक है। उसका रहस्य कुछ और है। वहाँ समुद्र से मतलब अनादि ब्रह्म से है। यथार्थ समुद्र न तो मथा जा सकता है और न मथने से फेन के सिवा उससे रत्नों के निकलने की आशा है। मथने के सामान जो है—मेरु, कछुआ, शेष, ये भी मथने के काम नहीं आ सकते और मथने वाले दैत्य और देवता जैसे इस समय दुर्लभ हैं वैसे ही उस समय भी दुर्लभ रहे होंगे। अगर ये आदमी के शक्ल के थे तो जैसे आदमी के शक्ल वालों के लिए इस समय समुद्र मथना असम्भव है, वैसे ही उस समय भी रहा होगा। सच पूछिये तो बात यह भाव की है, भाव मे समझने के लिए, वहीं इसको सत्य प्राप्त होता है। ब्रह्म-समुद्र को मथने वाले देवता और दैत्य भली-बुरी प्रकृति के रूपक है। जो चौदह रत्न निकलते है, हम देखते है, लक्ष्मी उनमे सर्वश्रेष्ठ है। इस प्रकार नारी की श्रेष्ठता सनातन प्रमाणित होती है। लक्ष्मी मे दिव्य भाव तथा ऐश्वर्य के सभी गुण है। इसीलिए वे लक्ष्मी हैं।

हम अपनी प्रत्येक गृहदेवी को गृहलक्ष्मी कहकर इन्हीं चिन्हो से सयुक्त करते है। यह बाहरी समादर मर्यादा-दान नहीं, किन्तु प्रकृति के औचित्य की रक्षा है। हमने नारी को इसी महिमा मे प्रत्यक्ष किया है।

उक्त चौदह रत्नों मे एक रत्न और है—उर्वशी। वह कला, गति और गीति की प्रतिमा है। इस उत्कर्ष मे भी हम नारी को प्रत्यक्ष करते है।

लक्ष्मी और उर्वशी के गुण प्रत्येक स्त्री मे मिले हुए है उसी प्रकार जिस प्रकार ब्रह्म-समुद्र मे वे एक साथ मिले हुए थे। उर्वशी के नाम से किसी-किसी को हिचक हो सकती है। पर यह न समझने के कारण होगी। जिस प्रकार प्रत्येक रागिनी का चित्र खींचा गया है उसी प्रकार उर्वशी गीति और गति की प्रतिमा है। प्रत्येक स्त्री मे एक प्रिया-भाव है जिससे वह पति का मनोरजन करती है। इस भाव का भोक्ता संसार मे केवल उसका पति है। यह उर्वशी का भाव है। प्रिया-भाव मे गीति और गति के साथ रचना भी आती है, वह ललित वाक्य-रचना हो या छन्द-रचना। यह शब्दों के साथ भी मिली हुई है और ताल के साथ भी। शब्दों के साथ वह काव्य है और ताल के साथ नृत्य। उर्वशी के इसी भाव का आरोप देवी सरस्वती पर किया गया है, इसलिए कि भाव मे शुद्धता रहे। पर जैसा पहले कहा गया है, प्रिया-भाव की प्रधानता के लिए यहाँ उर्वशी ही आती है। इस प्रकार के सौदर्य-बोध मे इस अप्सरा-भाव का प्राधान्य है। लक्ष्मी से नारी-भाव की महिमा व्यञ्जित होती है। जिस सुलक्षणता से वह गृह की कर्त्री है, ऐश्वर्य को स्थितिशील करती है, दूसरों को भोजन-पान और स्नेह देकर तृप्त करती है वह गृह के समस्त वातावरण को शान्ति से ढके हुए, चारुता देती हुई वह पति तथा दूसरो की दृष्टि मे महिमा

की मूर्ति बनकर आती है, वह उसका लक्ष्मी भाव है। रक्षा, सेवा आदि इसके अन्तर्गत है। इसी का विकास मातृत्व मे होता है। विश्व का पालन करने वाले विष्णु की शक्ति लक्ष्मी इसी मातृत्व मे पूर्णत्व प्राप्त करती है।

पहले भारत ने जिस तरह उन्नति की थी, अब वह तरह बदल गयी है। पहले की बातो मे मनुष्यता की एक अनुभूति मिलती है। वहाँ शाति है और आनन्दपूर्वक निर्वाह। स्त्री और पुरुष दोनों अपनी-अपनी विशेषता से गढते हुए, समाज मे मर्यादित रहकर, अनेक प्रकार के उत्कर्ष के चिन्ह अपनी सन्तानो के समक्ष छोडते हुए, आनन्द के भीतर से मुक्ति को प्राप्त करते है। गृह के भीतर स्त्री है, बाहर पुरुष, दोनों अपने स्वत्व और धर्म की रक्षा मे तत्पर। अब वह बात नहीं रही, जहाँ तक पश्चिम के विकास की रूपरेखा है। एक बडे विद्वान का कहना है कि अब गृह का स्थान होटल और क्लबों ने ले लिया है और स्त्री-पुरुष के सप्रेम समझौते की जगह प्रतिद्वन्दिता ने। स्त्री और पुरुष की प्रकृति के अनुसार दोनो के कामों मे अधिकार-भेद वाली बात नहीं रह गयी। फल यह हुआ कि जो देश आधुनिक भावो से समुन्नत कहलाते हैं वे स्त्री-पुरुष-युद्ध मे न घर मे शान्ति पाते है न बाहर। प्रणय प्रतिपल कलह है, कला बाजार की वस्तु बनी हुई है, जहाँ चमक-दमक अधिक, टिकाऊपन कम, नृत्य और गीत रगशालाओं के लिए है, जहाँ इतर-आवेश अधिक और दिव्यता थोड़ी। इस विशृखला का सारा कारण है पश्चिम का भौतिक उत्कर्ष। यह स्वाभाविक बात है कि केवल ससार की ओर ध्यान देने पर उस पर ईश्वरी प्रहार होगा, जिससे उसकी नश्वरता प्रतिक्षण सिद्ध होती रहेगी। भारत ने ससार की ओर ध्यान दिया था ईश्वर से सयुक्त होकर। इससे उसकी सासारिक चारुता मे भी नैसर्गिक छाप है।

यदि हमे प्रत्येक बात मे यूरप का अनुकरण करना पडे तो इससे बढ़कर हमारी दुर्बलता, हमारी अमौलिकता का दूसरा प्रमाण न होगा। इसमे सन्देह नहीं कि वहाँ हमारे सीखने योग्य बहुत सी बातें हैं और हमे भारतीय होने के कारण, वहाँ के गुण श्रद्धा पूर्वक ग्रहण करने मे संकोच न होना चाहिए पर यदि हम उन गुणों का, उन वस्तु-विषयो को, अपने अनुरूप न बना सके, उन्हे अपने साँचें मे न ढाल सके तो यह हमारे लिए अपनी विशेषता से अलग होना होगा। इससे बढ़कर हमारी दूसरी हार न होगी। युद्ध की हार उतनी बडी नहीं जितनी बड़ी बुद्धि और सस्कृति की हार है।

रात का समय सब भूमियों पर आता है। भारत की भूमि पर शताब्दियों से रात है। इस समय स्त्री-समाज पर जो पाशविक अत्याचार यहाँ हुए हैं उन्हें पढ़कर रोमाच होता है, साथ-साथ यह दृढता भी आती है कि इतने दिनों तक दलित होता हुआ भी भारत अपने विशेषत्व से रहित निष्पाप नहीं हुआ—उसमे कोई अद्भुत जीवनी-शक्ति अवश्य थी हमे इसी जीवनी-शक्ति का उद्बोधन करना है। इस शक्ति ने भारत की स्त्रियों को किस साँचे मे ढाला है, इसके सहस्रों प्रमाण है और यह रूप अन्य देशों मे बहुत कम प्राप्त होगा।

जिस क्षिप्रता और स्फूर्ति के लिए विदेशी महिलाएँ प्रसिद्ध हैं सासारिक कार्यों तथा क्रय-विक्रय मे प्रवीण, यह यहाँ की महिलाओं की पहली विशेषता थी। समय के अनेकानेक प्रहारों ने उन्हे निश्चेष्ट कर दिया है, स्त्री और पुरुष-दोनों देह और मन की सहज गति से रहित हो गये है, पर वास्तव मे वे ऐसे न थे। आध्यात्मिकता के मानी ही है लघु से लघुतर होना—जडत्व से वर्जित होना कला और कौशल के लिए यह पहली बात है कि गति अत्यन्त लघु, ललित और उचित शक्ति से भरी हो।

## कला और देवियाँ

कला अपने नाम से नारी-स्वभाव की सूचना देती है, उसकी कोमलता और विकास मे महिलाओं की प्रकृति है। पुनः उसकी अधिकाश उपयोगिता गृह के भीतर है। इसलिए वह महिलाओं की ही है, इसमे सन्देह नहीं। गृह के बाहर विशाल संसार मे चलने-फिरने की शक्ति गृह के भीतर है। यदि भीतर से मनुष्य अशक्त रहा तो बाहर सफल नहीं हो सकता। भीतर के सम्पूर्ण अधिकार स्त्रियों के है। घर का भीतरी हिस्सा देखने मे छोटा होने पर भी महत्व मे बाहरी हिस्से से कम नहीं, बल्कि गृह-धर्म के विचार से बढ़कर है। इसकी चारुता, आवश्यक छोटी-मोटी वस्तुओं का निर्माण जिनकी कमी हम बाज़ार से पूरी कर दूसरे देशों को धनवान करते है, रँगाई, सिलाई-बुनाई आदि सुई के भिन्न-भिन्न कार्य, गीत-वाद्य-नृत्य, शब्द-रचना, अलकार-निर्माण, चित्रकारी, पाकशास्त्र इतना ही नहीं, बल्कि भिन्न-भिन्न अंगो का गृह-विज्ञान, चिकित्सा आदि स्त्रियों मे विकसित रूप प्राप्त करे, इनके द्वारा वे ससार के ज्ञान से समृद्ध हो गृह के साथ देश और विश्व से संयुक्त हों, इसकी अत्यन्त आवश्यकता है। कला के विकास के साथ देवियों की आत्मा का विकास हो। और भारत के प्राचीन दिव्य शक्ति का प्रबोधन, भारतीयों के लिए उन्नयन का इससे बढ़कर दूसरा उपाय नहीं। देवियों की कला मे उनकी दिव्य विभूति की पड़ी हुई छाप विश्व को अपनी श्रेष्ठता का परिचय दे।

★

# वर्णाश्रम धर्म की वर्तमान स्थिति

'ननिवसेत म्लेच्छराज्ये'—इस अनुशासन वाक्य से साफ़ जाहिर हो रहा है कि दुराचारों से पतित म्लेच्छों का विस्तार उनके अनुशासन काल में भी काफी हो चुका था, चाहे वह भारतवर्ष की आधुनिक सीमा के बाहर ही हुआ हो। सृष्टि के दार्शनिक सिद्धान्त के मानने वाले निस्संदेह कहेंगे—देव और असुर भावों की सृष्टि एक साथ हुई थी। सृष्टि कभी बिल्कुल पवित्र नहीं होती। सृष्टि के चित्र-काव्य के दिखलाने वाले यहाँ के लोगों ने दिति और अदिति को एक ही कश्यप की पत्नी बनाकर अपनी सूक्ष्मदर्शिता मे कमाल कर दिखाया है। इस तरह प्रत्येक सृष्टि के अन्दर आसुर भावों का कुछ न कुछ अंश रहना सिद्ध होता है। इधर रामायण के रचयिता ने भी इसी सत्य की रक्षा के लिए सीता-जैसी 'हरिहर ब्रह्मादिभिर्वंदिता' नारी कुलशिरोमणि के चरित्र-चित्रण मे जरा-सा दाग दिखलाया है, लक्ष्मण के प्रति उनसे कटु प्रयोग करा कर। ऐसा न करते तो सूक्ष्म-दर्शी महापुरुषों के विवेचन मे सीता का चरित्र अधूरा समझा जाता। बात यह कि कोई सृष्टि निष्कलुष नहीं हो सकती।

परन्तु मुक्ति के विवेचन मे जरा-सा भी कलुष पहाड के समान बाधक है—'अवधू, अमल करै सो पावै' । असत या कलुष ही पुनर्जन्म का कारण है—सस्कार और शरीर-धारण असत् के ही आश्रय मे सम्भव है । शुद्ध सत्ता निर्वीज है । सृष्टि, स्थिति और प्रलय के नियम उसमे नहीं । समाज जब तक गतिशील है, सृष्टि के नियमों मे बँधा है, तब तक वह निष्कलुष नहीं, कारण वही, सृष्टि सदोष है । परन्तु चूँकि समाज निर्मलता की ओर गतिशील है, इसीलिए उसके अगों से हर तरह के कलुष के निकालने की चेष्टाएँ की गयी है । इसीलिए समाज-शासकों ने अनेकानेक विधानों द्वारा उसे बचाने का प्रयत्न किया है ।

दोषों मे सस्पर्श दोष भी एक माना गया है । इसका प्रभाव प्रत्यक्ष है । विषय के सस्पर्श से ही मनुष्य मे विषय की वृत्ति पैदा होती है । इसी तरह म्लेच्छों के राज्य मे रहने से उनके संस्पर्श से द्विजातीयत्व भी नष्ट होता है, दुराचरण फैलते है, समाज की अधोगति होती है, वर्णाश्रम धर्म नहीं रह जाता । इसी विचार से द्विजातियों को म्लेच्छों के राज्य मे रहने से निषेध किया गया है ।

यहाँ तक तो यह म्लेच्छों के राज्य मे न रहने के अनुशासन की एक जरा-सी व्याख्या हुई । प्रश्न असल यह है कि हजार वर्षों से म्लेच्छों के राज्य मे बसकर जीवित रहने वाली, अनेक कुसंस्कारों की खान यह अपने लिए परम पावन द्विज जाति अब तक द्वितीय ही बनी हुई है या नहीं ।

जो लोग सृष्टि के 'जन्म और मृत्यु' इन दोनों रहस्यों को भलीभाँति जानते है, वे यह भी जानते हैं कि दिन और रात के जोडे की तरह उत्थान और पतन का भी विवर्तन एक चिरंतन सत्य है । इस सत्य के बन्धन से मुक्त होकर उन्नतिशील द्विज जाति कभी पतन की

अवस्था को प्राप्त होगी ही नहीं, यह कहना या किसी अन्य युक्ति से चिरतन द्विजत्व की पुष्टि करना एक प्रकार की कठहुज्जती ही करना है।

वर्ण-व्यवस्था पर जितने लेख निकले हैं उनमे से कोई भी लेख ऐसा नहीं, जो विवर्तित समय की मौलिकता या नवीन युग का यथार्थ भाव समझाता हुआ वर्ण-व्यवस्था की एक विचार-पुष्ट व्याख्या कर रहा हो। सबके सब अपनी ही धुन मे लीन, अपने ही अधिकार के प्रतिपादन मे नियोजित हो रहे हैं। शूद्रों के प्रति केवल सहानुभूति प्रदर्शन कर देने से ब्राह्मण धर्म की कर्तव्यपरता समाप्त नहीं हो जाती, न 'जाति-पाँति तोड़क मण्डल' के मन्त्री सतराम जी के करार देने से इधर दो हजार वर्ष के अन्दर का ससार का सर्वश्रेष्ठ विद्वान् महामेधावी त्यागीश्वर शंकर शूद्रों के यथार्थ शत्रु सिद्ध हो सकते है। शूद्रों के प्रति उनके अनुशासन, कठोर से कठोर होने पर भी, अपने समय की मर्यादा से दृढ़-सम्बन्ध हैं। खैर, वर्ण-व्यवस्था की रक्षा के लिए जिस 'जायते वर्णसंकरः' की तरह के अनेकानेक प्रमाण उद्धृत किये गये हैं उनकी सार्थकता इस समय मुझे तो कुछ भी नहीं देख पड़ती, न 'जाति-पाँति तोड़क मण्डल' की ही विशेष कोई आवश्यकता प्रतीत होती है। 'जाति-पाँति तोडक मण्डल' को मैं किसी हद तक सार्थक समझता, यदि यह 'जाति-पाँति योजक मण्डल' होता। 'तोड़' ही हिन्दुस्तान को तोड़ रहा है। देश या जाति मे आवश्यकता उस समय उठती है, जब किसी भाव-सगठन या कृति का अभाव होता है। जाति-पाँति तोड़ने का अभाव एक समय इस देश मे हुआ था जरूर पर ब्रह्म-समाज द्वारा बड़ी अच्छी तरह पूरा किया जा चुका है। ब्रह्म-समाज के रहते हुए संतराम जी आदि ने 'मण्डल' की स्थापना क्यों की, ब्रह्म-समाज ही की एक शाखा क्यों नहीं कायम

कर ली, इस प्रश्न पर उत्तर क्या होगा, यह अनुमान से बहुत कुछ समझ मे आ रहा है । यहाँ खडा होता है व्यक्तित्व और कुछ भेद । भाई जी के व्यक्तित्व को देश मे ऐसा मनुष्य कौन होगा, जो आदर-पूर्वक न देखता हो और उनके व्यक्तित्व से जिस कार्य का सगठन होगा, उसे पृष्ठभूमि न मानता हो । परन्तु यह बात और है । इस लेख का उद्देश्य है, वर्णाश्रम-धर्म की वर्तमान सार्थकता, जिसमे एक ओर जाति-पाँति तोडक मण्डल के व्यक्तित्व तक आया गया है, दूसरी ओर है प्राचीन हिन्दू समाज जिसकी सकीर्णता तथा अनुदारता की तरफ इशारा करके ही अनेकानेक समाज उसके अग से छूटकर अलग हो गये है ।

जब विचार की पहुँच किसी तरह सत्य तक हो जाती है उस समय मस्तिष्क की तमाम विशृंखलाएँ दूर हो जाती है । जरा देर के लिए एक प्रकार की शान्ति मिलती है । भारतवर्ष को मुक्ति की ओर ले जाने वाले आज तक जितने भी विचार देखने मे आये है, वे राज-नीतिक, धार्मिक, साहित्यिक, सामाजिक किसी भी दिशा मे झुकाये गए हों, वैदान्तिक विचार की समता नहीं कर सकते । कोई भी 'मडल' ऐसा नहीं, जिसमे कोई न कोई दोष न हो । कोई वाद ऐसा नहीं, जो जाति, देश या समाज को पूर्ण स्वतन्त्रता तक पहुँचा सके — जहाँ किसी प्रकार का विरोध न हो । भारतवर्ष की समाज-शृंखला उसी वैदान्तिक धातु से मजबूत की गयी है । कोई वर्णाश्रम धर्म को माने या न माने, पर अपनी प्रगति की व्याख्या मे यदि वह वेदान्त को भी नहीं मानता, जैसा कि आजकल अधिकाश शिक्षितों की शिरश्चरण-विहीन युक्तियों मे देखा जाता है, तो वह भारतीय कहलाने का दावा नहीं कर सकता । पहले भाई जी के सम्बन्ध मे व्यक्तित्व का जिक्र आ चुका है । यहाँ यह कहना पड़ता है कि वैदान्तिक सत्यदर्शन

की ओर जितना बढ़ा हुआ है, उसका व्यक्तित्व उतना ही महत्वपूर्ण और अक्षय है। दूसरे, वैदान्तिक विचार भारतीय होने के अलावा एक दूसरे से संयोग करने वाले होते हैं, तोड़क नहीं। केवल भारत के लिए ही नहीं, तमाम संसार के मनुष्यों के लिए एक दूसरे के संयोग की आवश्यकता है, वियोग की नहीं। यदि हर मनुष्य से वियोग या तोड़न जारी रहा, तो यह जाति, देश या समाज के लिए कल्याणकर कब हो सकता है? योरप से भारतवर्ष की महत्ता मे इतना ही फर्क है। योरप मे प्रजा-विप्लव से लेकर आज तक जितने भी परिवर्तन हुए हैं, सब-के-सब तोड़क ही रहे हैं। यानी इसे नष्ट करो, तो यह दुरुस्त होगा—इस विचार के आधार पर हुए हैं। इस तोडक-भाव का प्राधान्य वहाँ इसलिए है कि वहाॅ के लोग **भोगवादी** हैं, उनके भोग मे जहाँ कहीं कोई ठेस लगी कि उनका धैर्य जाता रहा—विद्रोह खड़ा किया और उसी के बल पर जो सुधार होना था हुआ। वहाँ की वाह्य प्रकृति के साथ संबद्ध मनुष्यों के मन की विचारधारा भी यहाॅ वालों की विचारधारा के अनुकूल है। यह देश **त्यागवादी** है। पिता-पुत्र, पति-पत्नी से लेकर गुरु-शिष्य और सन्यासियों मे त्याग का ही आदर्श फैला हुआ है। यहाँ जीवन है **अमृतत्व**, जो त्याग से ही प्राप्त होता है। इस अमृत का जो जितना ही बड़ा अधिकारी है, उसका व्यक्तित्व भी उतना ही महान होगा और यह व्यक्ति घातक या तोडक नहीं होता, किन्तु संयोग हुआ करता है। इसे ही वैदान्तिक साम्य-दर्शन कहते है। जिस तरह किसी मनुष्य-विशेष का व्यक्तित्व होता है, उसी तरह समाज का भी एक व्यापक व्यक्तित्व हुआ करता है। समाज के इस व्यापक व्यक्तित्व को युक्ति के अनुसार, अनार्यभावों द्वारा धक्का पहुँचता है, जिस तरह एक विशिष्ट व्यक्तित्व को भीतरी इतर वृत्तियों द्वारा। यहाँ के समाज-शासकों ने जो कठोर-कठोर नियम

शूद्रो के लिए बनाये है उसका कारण यह नहीं कि वे निर्दय थे और अपने अधिकारों को बढाते रहना ही उनका ध्येय था। यदि हिन्दू नाम-धारी किसी मनुष्य के मुख से उन पर इस तरह के अपराध का लाञ्छन लगाया जाता है तो चाहे वे महात्माजी हों या भाई जी या सन्तराम जी या कोई भी प्रतिष्ठित पुरुष, मैं निस्सन्देह कहूँगा आपने हिन्दू धर्म की केवल कुछ पुस्तके ही देखी है, किन्तु उसकी व्याख्या करने की शक्ति आपमे नहीं है, आप उसके रहस्यो को नहीं समझते। एक बालक को राह पर लाने के लिए कभी तिरस्कार की भी जरूरत होती है, पर समझदार के लिए सिर्फ इशारा काफी कहा गया है। बालक फिर भूल जाता है, फिर प्रवृत्ति के वशीभूत होकर असत् पथ की ओर जाता है, पर समझदार से बार-बार गलती नहीं होती। तत्कालीन एक ब्राह्मण का उत्कर्ष और एक शूद्र का बराबर नहीं हो सकता। अतएव दोनो के दण्ड भी बराबर नहीं हो सकते। लघु दण्ड से शूद्रों की बुद्धि भी ठिकाने न आती। दूसरे, शूद्रो के जरा से उपकार पर सहस्र-सहस्र उपकार होते थे। उनके दूषित वीजाणु तत्कालीन समाज के मगलमय शरीर को अस्वस्थ करते थे—उनकी इतर वृत्तियों का प्रति-घात प्रतिदिन और प्रतिमुहूर्त समाज को सहना पड़ता था। निष्कलुष होकर मुक्ति-पथ की ओर अग्रसर होने वाले शुद्ध परमाणुकाय समाज को शूद्रों से कितना बडा नुकसान पहुँचता था, यह 'मण्डल' के सदस्य समझते, यदि वे भागवादी, अधिकारवादी, मानवादी—इस तरह जडवादी, न होकर, त्यागवादी, या आध्यात्मवादी होते। इतने पीडनों को सहते हुए अपने जरा से बचाव के लिए—आदर्श की रक्षा के लिए—समाज को पतन से बचाने के लिए अगर द्विज-समाज ने शूद्रों के प्रति कुछ कठोर अनुशासन कर भी दिये तो हिसाब मे शूद्रों द्वारा किये गये अत्याचार द्विज-समाज को अधिक सहने पडे थे,

या द्विज-समाज द्वारा किये गये शूद्रों को ? उस समय भारतवर्ष का ध्यान अधिकार की ओर नहीं था। यह कहा जा चुका है कि समाज की प्रत्येक आज्ञा सत्य से सम्बन्ध रखकर दी जाती थी। यहाँ के समाज-पतियो के चरित्र की छानबीन करके उन पर लाछन लगाना होगा। शंकर को क्या पडी थी, जो शूद्रो को हीन और ब्राह्मणों को श्रेष्ठ बतलाते। उन्हे न तो ब्राह्मण से कुछ लाभ ही था, न शूद्रों से कोई नुकसान। एक विरक्त और इतने बडे त्यागी पर लाछन लगाना क्या शूद्रत्व के समर्थकों की मानसिक दुर्बलता का ही परिचय नहीं ? अपितु इस तरह यह सिद्ध करना कि शकर को ईश्वर की प्राप्ति नहीं हुई थी, ब्रह्म के दर्शन नहीं हुए थे। ब्रह्म के दर्शन करने वाला महापुरुष किसी का शत्रु और किसी का मित्र होता है, द्वेष-भाव रखता है, यह संतराम जी कह सकते है। और जो पीपल, ताजिया आदि के पूजकों का मखौल उडाया गया है यह भी सिद्ध करता है लेखक को आध्यात्मवाद का कुछ भी ज्ञान नहीं। यदि प्रहलाद को खम्भे मे श्री भगवान की मूर्ति दिखलाई पड़ती है तो पीपल-पूजकों ने ही कौन-सा कसूर कर डाला है। ईश्वर किस केन्द्र मे नहीं है ? ताजिया पूजना भी हिन्दुओं की उदार पूजा की भावना का ही परिचय देता है। जहाँ हिन्दू-मुसलमान का भेद नहीं—ईश्वर की अभेदता जाहिर है। शकर ने जो अनुशासन दिये हैं वे अधिकारियों के विचार से ही दिये गये है। न शूद्रों ने अपने इतर कर्मो को छोड़ा, न वे उठ सके। जो उदाहरण शूद्रों को मिलाने से मिलते है उनमें यही जाहिर है कि उनके हृदय मे श्रद्धा आयी थी, वे अनार्य से आर्य हुए थे और आर्यों ने उन्हे अपनाया था। फिर कहना न होगा, जब सत्कार्यों का भार उनसे उठाया न उठा, तब रामदास और वशिष्ठ के नाम पर खडे किये गये उस समाज ने अपना पूर्व मूषकत्व की

संज्ञा फिर से प्राप्त कर ली। उनके लिए ऐसा कहना उचित नहीं कि वे गिरा दिये गये, बल्कि यों कहिए कि वे आप गिर गये। इस गिरने मे हिन्दू समाज के द्विजत्व का क्या कुसूर ? यहाँ के समाज का तो मूल मंत्र ही रहा है—

'उतिष्ठत् जाग्रत प्राप्यवरान्निवोधत्' पारसी जैसी दूसरी जाति को जिस जाति ने शरण दी उस जाति के गौरव ब्राह्मण ने अत्यजों को गिरा दिया। वह सन्तराम जी ही कह सकते है। पर मेरे पास मौन के सिवा उनके प्रति इसके उत्तर मे और कोई शब्द नहीं।

क्या तमाम राजनीतिक अधिकार, मुसलमानों की तरह, हिन्दुस्तान की छाती पर रहकर भोग करना पारसियों के भी डण्डे का ही फल है ? जहाँ शूद्रों के प्रति स्मृतिकारों ने कठोर दण्ड की योजना की है वहाँ उन्होंने यह भी लिखा है श्रद्धापूर्वक शुभ विद्या श्रेष्ठ धर्म और सुलक्षणा स्त्री अत्यजों के निकट से भी ग्रहण करो। इसका पुरस्कार उन्हे क्या दिया जा रहा है ? क्या इन पक्तियों मे अन्त्यजों के बहिष्कार या विरोध की कोई ध्वनि निकलती है ?

सृष्टि की सभ्यावस्था कभी नहीं रहती, तब अन्त्यजों या शूद्रों की ही क्यों रहने लगी, ज्यों-ज्यों का चक्र घूमता गया, त्यों-त्यों असीरियन सभ्यता के साथ एक नवीन शक्ति, एक नवीन वैदान्तिक सभ्यता स्फूर्ति लेकर पैदा हुई, जिसके आश्रय मे देखते-देखते आधा संसार आ गया। भारतवर्ष पर गत हजार वर्षों से उसी सभ्यता का प्रभाव बह रहा है। यहाँ की दिव्य शक्ति के भार से झुके हुए निम्न श्रेणियों के लोगों को उसकी सहायता से फिर आने का मौका मिला, वे लोग मुसलमान हो गये। यहाँ की दिव्य सभ्यता असुर सभ्यता से लड़ते-लड़ते क्रमशः दुर्बल हो गयी थी, अन्त में उसने विकार-ग्रस्त रोगी की तरह विकलाग, विकृत-मस्तिष्क होकर अपने ही घरवालों से तर्क-वितर्क

और लड़ाई-झगड़ों पर कमर कस ली। क्रोध अपनी ही दुर्बलता का परिचायक है और अन्त तक आत्मनाश का कारण बन बैठता है, उधर दुर्बल को जीवन का क्रोध करना ही है, उसकी कोई भी व्याख्या नहीं। फलतः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य-शक्ति पराभूत होकर मृत्यु की प्रतीक्षा करने लगी। जब ग्रीक सभ्यता का दानवीय प्रभाव गत दो शताब्दियों से आने लगा, दानवीय माया अपने पूर्ण यौवन पर आ गयी, हिन्दुस्तान पर अंग्रेजों का शासन सुदृढ हो गया, विज्ञान ने भौतिक करामात दिखाने आरम्भ कर दिये—उस समय ब्राह्मण शक्ति तो परामूत हो ही चुकी थी किन्तु क्षत्रिय और वैश्य शक्ति भी पूर्णतः विजित हो गयी। शिक्षा जो थी अंग्रेजों के हाथ मे गयी, अस्त्र-विद्या अंग्रेजों के अधिकार मे रही, (अस्त्र ही छीन लिये गये, तब यह विद्या यहाँ रह गयी है और वह क्षत्रियत्व भी विलीन हो गया) व्यवसाय, कौशल भी अग्रेजों के हाथ मे है। भारतवासियों के भाग्य मे पड़ा शूद्रत्व। यहाँ की ब्राह्मण-वृत्ति मे शूद्रत्व, क्षत्रिय कर्म मे शूद्रत्व, और व्यवसायी जो विदेशों का भाव बेचने वाले हैं कुछ और बढ कर शूद्रत्व अख्तियार कर रहे हैं, अदालत मे ब्राह्मण और चाण्डाल की एक ही हैसियत, एक ही स्थान, एक ही निर्णय। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपने घर मे ऐंठने के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य रह गये। बाहरी प्रतिघातों ने भारतवर्ष के उस समाज-शरीर को, उसके उस व्यक्तित्व को समूल नष्ट कर दिया। ब्रह्म दृष्टि से उसका अस्तित्व ही न रह गया। भारतवर्ष की तमाम सामाजिक शक्तियों का यह एकीकरण-काल शूद्रों और अन्त्यजो के उठने का प्रभात-काल है। प्रकृति की यह कैसी विचित्र क्रिया है। जिसने युगों तक शूद्रों से अपर तीन वर्णों की सेवा करायी और इस तरह उनमे एक अदम्य शक्ति का प्रभाव भरा और अब अनेकानेक विवर्तनों से गुजरती

हुई, उठने के लिए उन्हे एक विचित्र ढग से मौका दिया है। भारत-वर्ष का यह युग शूद्र-शक्ति के उत्थान का युग है और देश का पुनरुद्धार उन्हीं के जागरण की प्रतीक्षा कर रहा है।

अगर शूद्र गालियों के बल पर ब्राह्मणों से ईर्षा करके उठना चाहते हों तो यह उनकी समझ मे कमजोरी है। इस तरह भारत की किसी भी जाति का सगठन सुदृढ़ नहीं रह सकता है। कारण, कमजोर हुए ब्राह्मणों को गालियाँ देने से उठती हुई जाति तमाम ब्राह्मण-समाज पर विजय नहीं प्राप्त कर सकती। कायस्थों के समाज ने ब्राह्मणों के वहिष्कार के प्रस्ताव पास किये। पर इससे फल क्या हुआ ? 'महाराज' जैसी उपाधि का भोक्ता इस समय भी याचक ब्राह्मण हुआ करता है पर लाला जी को समाज मे कोई भी पडित जी नहीं कहता। दूसरे, ब्राह्मण को गालियाँ तो सभी देते है। पर ब्राह्मण बनने का इरादा कोई भी नवीन सगठित जाति नहीं छोड़ती। इस तरह ब्राह्मणो की प्रतिष्ठा बढ़ती जाती है। हम लोगों मे जैसे ब्राह्मणत्व का लालत्र बढ़ गया है।

कुछ वर्षों पहले डल्मऊ (रायबरेली) मे अखिल भारतीय अहीर सभा थी। सौभाग्य से मैं भी वहाँ मौजूद था। भारत के सभी प्रान्तों मे अनेक भाई आये थे। कुछ अहीर कस्बे मे दूध बेचने गये। मैंने एक से पूछा 'क्यों जी, अब तुम चाहे अहीर से कुछ और हो जाओ' उसने कहा—'हाँ कहते तो तुम क्षत्री हो। यहाँ चाहे जौन कहे, मुल्लै दूध बेचै का मना करिहै तौ हम भाई साफ कहि देब हम दूध तौ बेचब बन्द न करब, चाहे अपने जनेइ उतरवाय लेउ—को हमारे घारा कै रारि म्वाल लेई।' बात यह कि उसे वह क्षत्रिय होना मन्जूर नहीं जिससे दूध बेचना बन्द हो जाय और परम्परा से वह सुनता आया है—उसका विश्वास भी दृढ़ है कि दूध बेचने वाला कभी क्षत्री

नहीं होता, वह अहीर ही है, चाहे जनेऊ मे तीन ताग नहीं और बारह ताग उसके गले में डाल दिये जायँ। अब सन्तराम जी सोचे, जहाँ अहीर, बढई, कलवार और प्रायः सभी जातियाँ (जिसके सिर समाज ने निम्नजातीय भावना का भूत सवार कर रखा है।) यदि ब्राह्मण और क्षत्रिय बन सकती है तो पानी भरने वाला या रोटी बनाने वाला ब्राह्मण फिर क्यों नहीं ब्राह्मण रह सकेगा। इस तरह तो उसे एक और बल मिल रहा है। जिसे वह कल बढई कहता था, उसे ही अगर आज वह ब्राह्मण बनता देखे तो वह इतना कमजोर हो जावेगा कि दूसरों के मिस्त्री और बबर्ची कहने से वह अपने को मिस्त्री या बबर्ची समझेगा ?

और जरा एक और मजेदार बात सुनिये। ब्राह्मण देवताओं का अपमान भी कम नहीं हो रहा है। पहले के लिखे अनुसार, पूरे चालिस वर्ष के बाद अनेक जनेऊ धारण कर अहीर महा सभा के यज्ञ-कुण्ड से, निकले हुए हाल कौम क्षत्रिय, प्राचीन अहीर महाशय मेरी ससुराल से मेरे लडके को ले जाने के लिए आये। मैंने सोचा, पुरानी प्रथा के अनुसार यह मेरे यहाँ की पकाई रोटियाँ अवश्य ही खाएँगे। अस्तु, उनके लिए मैंने वैसा ही इन्तजाम करवाया। उस समय मेरा लडका घर मे न था। वह आया तो कहने लगा— रोटियों का इन्तजाम आपने व्यर्थ ही करवाया, नानी के यहाँ तो इसने पूड़ियाँ भी नहीं खाईं। मैंने पूछा—क्यों ? उसने कहा, यह कहता है, अब मेरा जनेऊ हो गया है। अब मैं थोडे ही कुछ खा सकता हूँ ? मैंने उस सस्कृत क्षत्री भाई से पूछा तो बात सत्य निकली। मैंने उसके लिए मिठाई मँगवा दी।

'आहार शुद्धौ सत्व शुद्धिः सत्व शुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।'

इस बला को जब तक सन्तराम जी हिन्दू-जाति की जड से नहीं निकाल सकेंगे तब तक जाति-पाँति के जोडने मे उन्हे सफलता शायद ही हो। महात्मा जी का जो उदाहरण दिया कि उनकी राय से एक ब्राह्मण बालिका का विवाह एक शूद्र कर सकता है, मेरे विचार से एक ब्राह्मण बालिका के मानी यहाँ एक शूद्र बालिका ही है। अगर ब्राह्मण बालिका का अर्थ महात्मा जी ब्राह्मण बालिका ही करते हों तो मैं सविनय निवेदन करूँगा, इतनी तपस्या करके भी महात्मा जी ब्राह्मण का अर्थ नहीं समझ सके। ब्राह्मण का तपस्या जन्म अर्थ ही लेता हूँ। जो उसका उचित निर्णय है। मुझे इसका भय नहीं कि दूसरों की तरह मुझ पर सन्तराम जी ब्राह्मणत्व के पक्षपात का दोष लगायेंगे। मैं यहाँ तक दिखला चुका हूँ कि समाज का व्यक्तित्व अब नहीं रहा। जड़वाद के इन्द्रजाल से भारत का अध्यात्मवाद समाच्छन्न सा हो रहा है। प्रत्येक गृह के विमार गुण रोगियो की अर्थहीन प्रलाप-वाणी सुनाई पड़ रही है। कोई भी चेला नहीं बनाना चाहता, गुरु बनकर शिक्षा देने के लिए सब तैयार है। भावों के सहस्त्र-सहस्त्र प्रतिघात प्रतिदिन टक्करे ले रहे हैं, एक दूसरे से लगते और मुरझाकर फिर शून्य मे विलीन हो जाते है।

ऐसी हालत मे सहस्त्र आवर्जनाओं के भीतर दबी हुई भारत की यथार्थ जातीय शक्ति को उभड़ाकर प्रतिमा की प्राण-प्रतिष्ठा की तरह उसे जीवन देना एक अत्यन्त कष्ट-साध्य उपाय हो रहा है। परन्तु साथ ही यह विश्वास भी है, जबकि यह भारत है तो जीवन स्वय ही अपना आलोक-पथ खोज लेगा। पौदों की बाढ़ कम अधकार या छाया की ओर नहीं हो सकती। समाज के व्यक्तित्व को कायम रखने के लिए पहले जो स्मृतियाँ, जो कानून प्रचलित थे, आज के लिए वे अनुकूल नहीं रहे। मुसलमान शासन-काल मे तो भारत में संकी-

र्णता की हद हो गयी थी। इस समय भी देहातों मे इसी संकीर्णता का शासन है। परन्तु है यह अज्ञानजन्य और समाज मे यह अज्ञान का राज्य शिक्षा के अभाव से ही फैला हुआ है। जबसे वेद-वेदान्त योरप मे छपने लगे, तबसे भारत के ज्ञान के लिए यह आवश्यक हो गया कि उसमे जातीय जीवन को रूढियों और प्राचीन आचारों से मुक्त कर दिया जाय, उसमे प्रसार के लिए ज्ञान के वृहत्-से-वृहद् सस्कार छोडे जायँ, अन्यथा अपर जातियों के पदार्थ-विज्ञान की उच्चता से लड़कर वह स्थाई न हो सकेगा। पृथ्वी और सूर्य के आकर्षण की तरह बृहत् और उदार ज्ञान का आकर्षण जिस तरफ होगा, अधिक शक्ति वहीं पर निहित होगी, दूसरे ज्ञान जो तुलना मे उससे छोटे होंगे, उसी के चारों ओर चक्कर काटते रहेंगे। भारत की जातीयता को योरप के इस विज्ञान-युग की जातीयता से लड़ना है। परन्तु इस समय उसके पास अपार-विचारात्मक ज्ञान के जो महास्त्र है वे यूरोप के वर्धनशील विज्ञान के सामने पराजित तथा अवनत् हो रहे है। और, चूँकि पहले के कथन के अनुसार इस समय भारत मे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य नहीं रहे—न इस अवस्था मे रह सकते हैं, अतएव दास्य वृत्ति वाले भारत के लिए भौतिक विज्ञान से मुग्ध हो जाना—उसे आत्म समर्पण कर देना निहायत स्वाभाविक है। योरप मे यथार्थ वैश्य और यथार्थ क्षत्रिय तक हो गये है और अवश्य कुछ ब्राह्मण भी है। यही कारण है कि इस शक्ति का सिक्का भारतवासियो पर जमा हुआ है।

वहाँ के ज्ञानास्त्र को काट कर अपनी निर्मल जातीयता के पुनरुत्थान के लिए आवश्यक है वेदान्त-ज्ञान। वेदान्त-ज्ञान के प्रभाव से मनुष्य की मनुष्य से यह इतनी बड़ी घृणा न रह जायेगी और सगठन भी ज्ञान-मूलक होगा। योरप का सगठन स्वार्थ-मूलक है। यहाँ इस

तरह के भाव कामयाब नहीं हो सकते। हिन्दू-मुसलमानों का झगड़ा भी इस तरह तय नहीं हो सकता। और तरह-तरह के विचार जो लगाये जाते है वे ससार मे विवर्तन से उधार लिये विचार ही होते है। इससे अधिक पुष्ट विचार मेल के लिए और क्या होगा कि हर एक को अपनी आत्मा समझे, अपने सुख और अपने दुःख का अनुभव दूसरों मे करे। सन्तराम जी जो वैवाहिक व्यवस्था पेश करते है वह भी इस तरह मन के मेल से सम्भव हो सकेगी, जैसा कि पहले था। अन्यथा यदि महात्मा जी की तरह विवाह का एक सूत्र निकाल दिया जायेगा कि एक अछूत एक ब्राह्मण-कन्या से विवाह कर सकता है तो उत्तर मे यह कहने वाले बहुत है कि एक ब्राह्मण-कन्या का किसी मुसलमान के साथ योरप जाना महात्मा जी ने रोका था और उसका विवाह एक दूसरे (शायद) ब्राह्मण से करवाया था। यदि हिन्दुओं की व्यापक जातीयता के लिए इस तरह के कानून निकाल देना न्यायानुकूल है, तो इस भारतवर्ष की छाती के पीपल मुसलमानों से सप्रेम रोटी-बेटी का सम्बन्ध जोड़ लेने से कौन राष्ट्रीयता की नाक कटी जा रही है? इस तरह तो स्वराज्य हासिल करने मे और शीघ्रता होगी। फिर मुसलमानों मे प्रिय बनने की चेष्टा करते हुए भी महात्मा जी ने क्या एक मुसलमान के निर्दोष सप्रेम विचरण मे बाधा नहीं दी? क्या उसका हक महात्मा जी ने नहीं छीन लिया? इसी तरह शूद्रो और अछूतों के प्रति भी महात्मा जी की सहानुभूति मौखिक ही न होगी, इसका क्या प्रमाण है, जब उनके यहाँ के विवाह अन्त्यजों से न होकर, जहाँ तक मुझे ज्ञात है, आज तक उन्हीं की श्रेणी मे हुए है! महात्माजी का विकास जिस तरफ से हुआ है, उसी तरफ के लिए उनके शब्द महान और सप्राण हैं। परन्तु वह एक धर्माचार्य भी है, स्मृतिकार भी है और अप्रतिद्वंद्वी शास्त्र विख्यात भी हैं—यह

उनके अनुयायी ही सिद्ध कर सकते है। मुझे कुछ सकोच हो रहा है। राम के वाण तो सत्य भी हैं पर वन्दरों की विकृत मुखमुद्रा असह्य हो जाती है। विवाह के प्रसग पर मैंने जो कुछ लिखा है, मैं जानता हूँ, महात्मा जी की महत्ता से मुझे क्षमा मिल जावेगी, मुझे केवल उनके भक्तों से ही भय है, कारण भक्तों का परिचय कई बार मुझे प्रत्यक्ष हो चुका है। अछूतों के साथ रोटी-बेटी सबध स्थापित कर उन्हे समाज मे मिला लिया जाय या इसके न होने के कारण ही एक विशाल संख्या हिन्दू राष्ट्रीयता से अलग है यह एक कल्पना के सिवा कुछ नहीं। दो मनों की जो साम्य स्थिति विवाह की बुनियाद है और प्रेम का कारण, इस तरह के विवाह मे उसका सर्वथा अभाव ही रहेगा और जिस योरप की वैवाहिक प्रथा की अनुकूलता सन्तराम जी ने की है, वहाँ भी यहीं की तरह वैषम्य का साम्राज्य है। किसी लार्ड-घराने की लड़की के साथ किसी निर्धन और निर्गुण मजदूर का विवाह नहीं हुआ। मुसलमानों मे विवाह का कुछ ऐसा प्रतिबन्ध नहीं, पर मोगल बादशाहजादियाँ कुँवारी ही रहती थीं। कहीं यह साम्य अर्थ से लिखा गया, कहीं जाति से। यदि इस विवाह से ही हिन्दुओं का उद्धार होना निश्चित है, तो यहाँ के मुसलमानों के उद्धार के लिए तो कोई शका ही न करनी थी, पर दुःख है कि इस वैवाहिक एकता को अंशतः कायम रखने पर भी वही उनके भाग्य किसी तरह भी हिन्दुओं के भाग्य से चमकीले नहीं नजर आते।

और जो बुलबुलशाह की ऐतिहासिक दुर्घटना का सन्तराम जी ने उल्लेख किया है इससे हमारे महाराज जयचन्द ही क्या कम थे। एक बार एक बगाली विद्वान ने एक दूसरे बगाली से मेरी तारीफ़ करते हुए कहा—यह महाशय उस देश मे रहते हैं, जहाँ के महाराज जयचन्द थे, जिनकी कृपा से देश हजार वर्ष से गुलाम है। आप

समझ सकते है ऐसे चुभते हुए परिचय से उस समय मेरी क्या दशा हो गयी होगी। पर मुझे भी इसका करारा उत्तर सूझ गया और वही सतराम जी के लिए भी है। मैंने कहा—लाखों वर्ष तक देश को स्वाधीन तथा सम्पन्न रखने का श्रेय आपने हमे नहीं दिया, पर हजार वर्ष के लिए गिरा देने का उलाहना दे डाला। जिन्होंने इसे स्वाधीन रक्खा था उन्हीं ने गिराया भी। गिराने के लिए दूसरे थोडे ही आते है। इसी तरह, एक ब्राह्मण की गल्ती से बुलबुलशाह के भी लाखो भाई मुसलमान हो गये। पर बुलबुलशाह के भाई जब हिन्दुस्तान 'सितच्छत्रित' कीर्ति माडला हो रहे थे, उस समय 'स्वधर्मे निधन श्रेय परधर्मो भयावहः' की उस उल्टी व्याख्या ने ही हिन्दू धर्म को मुसलमान धर्म मे विलीन होने से बचाया था। यदि उस समय मुसलमानों की धार्मिक उदारता के साथ ब्राह्मणों की वैदान्तिक उदारता ने अभेदत्व का प्रचार किया होता तो निःसन्देह इस समय हिन्दू धर्म के सुधार के लिए आवाज उठाने के कष्ट से सन्तराम जी बालबाल बच गये होते और शायद हम लोग इस समय अपनी दाढियों मे खुदा का नूर देखकर प्रसन्न हो रहे होते।

ब्राह्मणों मे भी भगी, चरशी, शराबी, और कबाबी है। पर इसलिए अन्त्यजों से उनकी तुलना नहीं हो सकती। दूसरे, तुलना यह इस तरह की है जैसे करोड़पति ऐयाश-दिल लड़के से किसी मजदूर के ऐयाश-दिल लडके की। लेख बढ़ रहा है, मुझे सब बातों के उत्तर देने का स्थान नहीं।

इस व्यापक शूद्रत्व के भीतर भी इस जाति के प्रदीप मे जो कुछ ज्योति है, वह आचार, शील और ईश्वर-परायण लोगों मे ही है। दूसरे देशों मे धार्मिक कट्टरता भले ही राष्ट्र की जागृति से दूर कर दी गयी हो, पर वहीं धर्म से कट्टरता ही प्रधान थी, जिसके कारण यह

फल हुआ है । यहाँ धर्म ही जीवन है और उसकी व्याख्या भी कहीं विशद है । यहाँ उसके व्यक्तित्व को बढ़ाने का उपाय है शिक्षा का सार्वभौमिक प्रसार । अँग्रेजी स्कूल और कालेजों मे जो शिक्षा मिलती है उससे दैन्य ही बढता है और अपना अस्तित्व भी खो जाता है । बी० ए० पास करके झींगुर लोध अगर ब्राह्मणों को शिक्षा देने के लिए अग्रसर होंगे तो सन्तराम जी ही की तरह उन्हें हास्यास्पद होना पडेगा । पर महात्मा जी की तरह त्याग के मार्ग पर अग्रसर होने वाले के सामने आप ही ब्राह्मणों के मस्तक श्रद्धा से झुक जाया करेंगे । भारतीय शिक्षा के प्रसार के साथ ही शूद्रों तथा अन्त्यजों मे शुभाचरण के कुछ संस्कार जाग्रत किये जायँ । दूसरी दो जातियाँ जिस तरह ब्राह्मण और क्षत्री बन रही हैं, उसी तरह उन्हे भी एक कोठे मे डाल दिया जाय यह तो हुआ एक प्रकार का संगठन । रही बात पूर्ण वैदान्तिक व्यक्तित्व की सो वह विशाल व्यक्तित्व एक दिन मे कही प्राप्त हो सकता है । वह तो भारत के सतयुग के लिए कठिन है । परन्तु उन्नति का लक्ष्य वही होना चाहिए । ब्राह्मण और क्षत्री जातियाँ देश की रक्षा के लिए बहुत लड चुकी है । अब कुछ शुभ सस्कारों के सिवा उनके पास कुछ नहीं रह गया । उठने वाली जातियों की विरासत मे उन्हीं गुणों, उन्हीं महास्त्रों को ग्रहण करना होगा । वृद्ध भारत की वृद्ध जातियों की जगह धीरे-धीरे नवीन भारत की नवीन जातियों का शुभागमन हो, इसके लिए प्रकृति ने वायुमण्डल तैयार कर दिया है । यदि प्राचीन ब्राह्मण और क्षत्री जातियाँ उनके आने मे सहायक न होंगी तो जातीय समर मे अवश्य ही उन्हे नीचा देखना होगा । क्रमशः यही अन्त्यज और शूद्र, यज्ञकुण्ड से निकले हुए अदम क्षत्री की तरह, अपनी चिरकाल की प्रसुप्त प्रतिभा की नवीन स्फूर्ति से देश मे अलौकिक जीवन का सचार करेंगे । इन्हीं की अजेय शक्ति

भविष्य मे भारत को स्वतन्त्र करेगी। अभी देश मे वैश्य-शक्ति का उत्थान नहीं हुआ, महात्मा जी जिसके अग्रदूत है, फिर क्षत्री और ब्राह्मण शक्ति की बात ही क्या है? देश की स्वतन्त्रता के लिए चारों शक्तियों की नवीन स्फूर्ति, इनका नवीन सम्मेलन अनिवार्य है और तब कहीं उस सगठित नवीन राष्ट्र मे वेदोक्त साम्य की यथार्थ प्रतिष्ठा हो सकेगी ।

# बहता हुआ फूल

रूपनारायण जी को बंगला से अनुवाद करने मे बहुत कुछ प्रशंसा मिल चुकी है। परन्तु हमारा विश्वास है कि रूपनारायण जी के अनुवाद की जब जाँच की जावेगी तो जितनी उनके अनुवाद के कारण प्रशसा हुई है उतनी ही निन्दा भी होगी, क्योंकि आपका अनुवाद ऐसा ही दोषपूर्ण होता है। अनुवाद का सत्य वही समझता है, मौलिक ग्रन्थ का चमत्कार उसी की दृष्टि मे अपनी शोभनीय सृष्टि रखता है, अनुवाद और मूल दोनों की भाषाओं पर जिसका पूर्ण अधिकार हो। पाठकों को चाहिए कि हिन्दी की मौलिक पुस्तकों को अधूरी पुस्तके पढ़े, पर अनुवाद कभी न पढ़ें और जिन लोगों को अनुवाद करने का रोग है वे अनुवाद करके जीविकार्जन भले ही करते रहे, परन्तु, सिर पर साहित्य-सेवा और हिन्दी के प्रभूत उपकार की पगड़ी लपेटकर, उन्हे सातवें आसमान पर चढ़ाने की उदारता न दिखावे। इससे हिन्दी भाषा का कितना अपकार होता है—दूसरे प्रान्त के लोगों के सामने हिन्दी-सेवियों को किस तरह आँखें नीची करनी

पड़ती हैं, जब अनुवादको की प्रशसा पर घृणा करके दूसरे प्रान्तों के लोग अपनी भाषा, अपने ग्रन्थ और अपने लेखकों की प्रशसा करते हुए हिन्दी-सेवकों को हास्य-मिश्रित नीच तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगते है। तब बिचारे निर्दोष साहित्यिको की क्या दशा होती है, यह वही समझते हैं जिन पर कभी ऐसी विपत्ति एकाएक टूट पड़ती है। हिन्दी-साहित्य-संसार से हम विनयपूर्वक प्रार्थना करते है कि वह एक साधारण मूल पुस्तक के लेखक की जितनी प्रशसा करे उसका शताश भी अनुवादक की न करे। जब तक उसके हृदय मे इस भाव की जड़ नहीं जम जायेगी तब तक उसे साहित्य के अपर क्षेत्र मे हमेशा नीचा देखना पड़ेगा। मूल लेखक की कृति साधारण होने पर भी हिन्दी के लिए अपनी चीज है। उसमे सुचारु रूप से प्रतिबिम्बित न होने पर भी जिस चित्र की स्पष्ट झलक देख पड़ती है, उससे अपने ही स्वरूप का पता चलता है। उसी को देखकर हम अपना स्वरूप सुधार कर सकते है, हमारा शृंगार उसी के द्वारा सँवर सकता है। अतएव पुस्तक सर्वाङ्ग सुन्दर न होने पर भी यदि मौलिक है तो उसके लेखक की जितनी प्रशंसा होनी चाहिए, वह जितनी सम्मान-प्राप्ति का अधिकारी है, एक अनुवादक उसके शताश का भी नहीं। पर अनुवाद की आवश्यकता हर एक साहित्य मे होती है और बिना अनुवाद के एक साहित्य दूसरे साहित्य की राजनीतिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, साहित्यिक आदि ज्ञान की विभिन्न शाखाओं से परिचित हो ही नहीं सकता, अपितु संसार की प्रगति से अज्ञ बना रहता है। अतएव हिन्दी मे भी अनुवाद की आवश्यकता है। परन्तु अब तक इस आवश्यकता की पूर्ति जिस उपाय से होती रही है, उसमे कुछ परिवर्तन होना चाहिये। काशी को नागरी प्रचारिणी सभा जैसी प्रतिष्ठित सस्थाएँ योग्य मनुष्य चुन कर अनुवाद का काम

करावे तो उस अनुवाद का विद्वान-मण्डली भी विश्वासी हो और साहित्य से गन्दगी भी दूर हो । हमे विश्वास है, हिन्दी के आचार्य, संस्थाओं के सचालक, हिन्दी के प्रकाशक और हिन्दी के लेखक हमारी प्रार्थना पर ध्यान देगे ।

सच्चा अनुवाद करने के लिए कितने बडे ज्ञान की आवश्यकता है यह वही समझते है जो भाषा-विज्ञान के अधिकारी कहलाते हैं । जिन्हे शुद्ध अपनी भाषा भी लिखना नहीं आता वे यदि दूसरे भाषा मे आचार्य बने घूमे, तो उनकी इस अज्ञन्यता की सच्चे मर्मज्ञ क्या समझेंगे उन्हे इसका भी ख्याल नहीं होता । मूल के साथ रूपनारायण जी के कुछ अश हम उद्धृत करते हैं । मूल मे है—'रानी बोलि-लेन—नाना विपिन आमार सोनार चाँद छेले, और शरीरे एतोटुक दोष नाई' इसका अनुवाद है—बडी बहू ने कहा—ना ना मेरा विपिन वैसा लड़का नहीं है, वह हजार दो हजार मे एक लडका है, उसके चाल-चलन मे रत्ती भर दोष नहीं ।

यहाँ रूपनारायण जी का ना ना अशुद्ध और देहाती है । शुद्ध हिन्दी के अनुसार नहीं नही होना चाहिए । कुछ लोग ऐसे स्थलों मे ना ना प्रयोग करते हैं, परन्तु है यह बड़ा भद्दा प्रयोग । यहाँ दूसरी जगह भी पाण्डेय जी चूके हैं परन्तु ऐसी त्रुटियाँ क्षम्य है :

'अमनि रानीर कथार सूत्र धरिया मा बोलिया उठिलो' का अनु-वाद है—वैसे ही बहू रानी के स्वर मे स्वर मिला कर मा बोल उठी । अनुवादक महाशय शायद नहीं जानते थे कि कथार सूत्र धरिया 'स्वर मे स्वर मिलाना' नहीं ।

मूल मे है 'दादा बाबूर साधु चरिविस्ता आर एक बार कर बोलते' इसका अनुवाद है—बडे बबुआ का चाल-चलन तो ऐसा अच्छा है कि वैसा किसी भी लडके का न होगा' नहीं, और आपका

अनुवाद जो 'एतो भावता आर एक बार करे बोलते' इस तरह के मुहाविरों पर इतनी बेदरदी से हाथ साफ न किया करे तो बड़ी कृपा हो।

'किन्तु बापू रात दिन सुधुपडा आर पड़ा, ये कि रकम बाई' इसका अनुवाद है—'लेकिन लिखने-पढने की ऐसी धुन सवार रहती है और किसी तरफ ध्यान ही नहीं देता।' पाण्डे जी यह आप अनुवाद कर रहे है या विस्तारपूर्वक इसका भाष्य लिख रहे है।

'नइले जावोलो, ता बोलो बापू और बुद्धि शुद्धि आछे, एक एकटा कथा बोले भालो।' इसका अनुवाद है—लेकिन ईमान की बात वह है कि बात पते की कहती है। और सवस (१) समझदार (२) भी है।' क्यो न हो जब आप जैसे समझदार अनुवादक मिल गये।

'खुण्डी माँ अन्दरेर दिके फिरिले न' का अनुवाद है 'चाची अम्मा वहाँ से चल दीं।'

'खुण्डी माँ सातर स्वरे बोलिलेन-ए बाड़ी ते अमार आ आर बेशी दिन टिकते होबे ना भट्टाचार्य मोशाय, तार परिचय अमि ओ यथेष्ठई पाच्छी।' का अनुवाद है—'चाची अम्मा ने कातर स्वर से कहा—भट्टाचार्य जी इस घर मे मैं अधिक दिन तक नही टिकने पाऊँगी। इसका परिचय मुझे यथेष्ठ मिल रहा है।' 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' लिखकर पाण्डे जी चूक गये। इसका परिचय भी मुझे यथेष्ठ मिल रहा है। नहीं मूल अर्थ कुछ और है, मूल का अर्थ है मुझे भी यथेष्ठ परिचय मिल रहा है। पाण्डेय जी ने अपनी माधुरी के नोट मे ही—भी, के इधर-उधर हो जाने पर आक्षेप किया था। जरा देखिये एक 'भी' के इधर-उधर के होने से अर्थ मे कितता परिवर्तन हो जाता है। अनु-वाद छोडकर साहित्य की बारीकियों पर विचार करने के लिए शायद

आपको अभी समय नही मिला, देखिये, मूल मे भी 'आगिया' है।

'बुद्धि भ्रष्ट होते (!) देखकर' 'तुम्हारे ऊपर ( नीचे नहीं ! ) अत्याचार नहीं कर सकेगा' इस तरह की सैकड़ों भूलें हैं।

'इहार पर नव किशोर, निर्विवादे ग्रामेर भूल हो इते भाइ नर पास केरिया वृत्ति पाइलो'—इसका अनुवाद है—इसके बाद नव किशोर ने वृत्ति पाई मूल मे निर्विवाद है फिर क्या, अनुवाद मे बिना किसी विवाद के होना ही चाहिए। 'पण्डित जी', निर्विवाद का मतलब है—'आवश्यक'। आप इतना तो समझते हैं कि बेचारे विद्यार्थी को क्या पडी थी—जो विवाद करके पास करता 'निर्विवाद' बँगला मे निर्दोष व्यग का भी बोधक है। 'नव किशोर एई कथाय तारक एके वारे खेपिया गिया विपम तर्क जुडिया दिता'—इसका अनुवाद है—'नव किशोर की इस बात से तारक एकदम पागल हो उठा और उसने घोर तर्क ठान लिया' 'दिता' और 'दिया' काल के भांव मे महा अकाल पड़ गया है।

'विपिनेर पिता हरि विहारी हालका छिपे छिपे छोटो खाटो गौर वर्ण लौकुर्टा'—इसका अनुवाद है 'विपिन के पिता हरि विहारी इकहरे लम्बे डील के ( जो नन्हीं, छोटे डील मे, या नाटे ) और गोरे थे। 'ताहा देर भाव प्रवण तरुण हृदय आगुनेर, पुलकीर मत नई स्वाधीन आनन्देर उज्जवलाय क्षणे-क्षणे आपना दिगके चारि दिके विकीर्ण करिते थाकितो' अनुवाद, 'उसका भाव-प्राण तरुण हृदय सिंक रही फुलकी (रोटी) की तरह स्वाधीन आनन्द से फूल-फूल उठता था।' खूब। पडित जी, जान पड़ता है जिस समय आप अनुवाद कर रहे थे उस समय भूख बडे जोर की लगी थी, नहीं तो रोटी क्यों सेकते ? यहाँ न कहीं रोटी है न दाल, 'फुलकी' है सो वह भी चिनगारी है। रोटी नहीं। 'चिनगारी' की

जगह रोटी सेकना आपही जैसे स्वयं-सिद्ध अनुवादक का काम है। कल्पना भी कैसी ! मूल मे तो है 'विकीर्ण करिते थाकितो' अनुवाद मे 'फूल फूल उठता था'। चिनगारी रोटी थोडे ही है जो फूल-फूल उठेगी। मूल के 'विकीर्ण करिते थाकितो' से 'चिनगारी' का भाव भी व्यक्त होता है। 'फूल-फूल उठना' 'रूप नारायण जी की रोटी' के लिए ही उपयुक्त है। अच्छा है, 'सेकिये रोटी'।

# चरित्रहीन

हिन्दी मे आज-कल जितने ग्रन्थरत्न निकल-निकल कर पाठकों की दृष्टि मे चकाचौध लगा देते है उनमे से ३/४ अंश अनुवादित ग्रन्थों का होता है। कोई-कोई ग्रन्थ हिन्दी अक्षरो मे लिखे जाने पर भी कोट-पैण्ट डाले और हैट लगाये खासा स्वाग-सा भरकर, हिन्दी के मैदान की हवा खाते फिरते हैं। कोई-कोई, आधी जनानी सूरत बनाये, स्लीपर चटकाते हुए, ललित लवग लता की सी सुकुमार दृष्टि से हिन्दी-भाषियों के पुरुषत्व का पीडा पहुँचाया करते है। जिस तरह वहिः संसार मे अंग्रेजी, बगाली, मराठी, गुजराती, पारसी आदि कितनी ही जातियाँ भिन्न-भिन्न रूपो से अपने वैचित्र्य के दृश्य दिखलाती हैं उसी तरह हिन्दी-संसार मे भी समझिये।

अभी कुछ दिन हुए बँगला के एक ग्रन्थ का अनुवाद हिन्दी में हुआ है। मूल पुस्तक बँगला के श्रेष्ठ उपन्यास-लेखक बाबू शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय की लिखी है। नाम है 'चरित्रहीन'। इसके हिन्दी के अनुवादक हैं शरत् बाबू के एक मित्र। मालूम नहीं, शरत् के मित्र

ने अपना पूरा नाम क्यो नहीं लिखा। अस्तु, अधिक मुखबंध की आवश्यकता नहीं, जरा अनुवाद का आनन्द लूटिये।

अनुवाद का चमत्कार दिखलाने के पहले, हम अनुवाद के नियमों पर कुछ निवेदन करना चाहते है। एक बार मै अपने व्यक्ति रूप से हिन्दी धुरन्धर के आचार्य पूज्यपाद पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी के दर्शन करने गया था। एकाएक अनुवाद का प्रसंग चल पड़ा। मैंने उनसे, उसके नियम पूछे। द्विवेदी जी ने कहा, आम भाषाओ पर अनुवादक का पूर्ण अधिकार होना चाहिए। आम भाषाओं के मुहाविरे बिना जाने अनुवाद मे सफलता नही होगी। दूसरे, अनुवाद के लिए यह कोई नियम नहीं कि मूल पुस्तक का अक्षरशः अनुवाद किया जाय, परन्तु यह भी ठीक नहीं कि मूल पुस्तक की अर्थ-ध्वनि कुछ और हो और अनुवाद की कुछ और। अनुवादक को सदा मूल के अर्थ पर ध्यान रखना चाहिये, उसी अर्थ को दूसरी भाषा मे परिष्कृत कर देने की चेष्टा करनी चाहिए। यदि मूल मे कोई चमत्कार हो तो अनुवाद मे भी चमत्कार दिखलाना चाहिए। मूल की भाषा मे यदि किसी ऐसे मुहाविरे (Idiom) का प्रयोग आ गया है जिसकी ओर स्वभावतः पाठक खिंच जाय तो अनुवाद भी उसी ढग का करना चाहिए। साराश यह है कि मूल की भाषा और भावों से अनुवाद की भाषा और भावों को शिथिल न होने देना चाहिए। यही अच्छे अनुवाद और सफल अनुवाद के लक्षण हैं। बहुत जगह एक भाषा का मुहाविरा दूसरी भाषा मे नहीं आता। वहाँ अपनी साधारण भाषा मे किसी दूसरे ढग से और कुछ नहीं तो भाषा-सौष्ठव ही दिखा देना चाहिए। यदि अनुवादक दब गया—मूल भाषा को पढ़कर उसके भाव-गाम्भीर्य पर अपना अधिकार न जमा सका तो उसे सफलता नहीं हो सकती।

अच्छा तो अब शरत् बाबू के मित्र का अनुवाद देखिये—मूल मे है 'किन्तु ए खन कथा हईते छे से एक जायगा चुप करिया वासिश्रा थाकिते पारा जावना किछु बला आवश्यक। एक जनेर (दिके चाहिए) बलिलेन, किन्तु बला चाई हे, सभापति सेजे सभार उद्देश्य सम्बन्ध। एक बारे अध थाका त आमार काछे भाव डेरेना, किल बल तोमरा ?' इसका अनुवाद है—'लेकिन बात यह थी कि यहाँ चुपचाप बैठना मुश्किल था, कुछ न कुछ बोलना जरूरी था। एक आदमी की ओर इशारा कर बोले—अरे भाई कुछ कहो भी तो ? सभापति का स्वाग भर सभा के उद्देश्य के सम्बन्ध मे बिल्कुल अनभिज्ञ रहना मुझे अच्छा नहीं लगता, तुम लोगो की क्या राय है।'

इस अनुवाद मे शरत् बाबू के मित्र को ही जब ऐसा धोखा हो गया तब भला इसके अनुवादक जो कोसो दूर रहते है, अनुवाद करते समय किन-किन कठिनाइयों का सामना करते होगे ? परन्तु शरत् बाबू ने यदि, उद्धृत उतना अश एक अलग पैराग्राफ मे लिखा और यही उचित था तो उनके अनुवादक मित्र ने 'किन्तु' से पैराग्राफ का आरम्भ हुआ देख, उस शब्द के सयोजक गुण के कायल होकर उसके लिए अलग पैराग्राफ की सृष्टि न करके उसे पिछले ही पैराग्राफ के साथ जोड़ दिया। फल यह हुआ कि अर्थ मे यहाँ अनर्थ पैदा हो गया। शरत् बाबू के वाक्यो की ध्वनि एक अशेष अर्थ की ओर इशारा करती है तो अनुवादक की ध्वनि मे एक दूसरी ही तान उठ रही है।

बात यह कि कुछ लड़के उपेन्द्र को सभापति बनाने के लिए उनके पास आये है और छात्र-मण्डली प्रायः उपेन्द्र को ही सभापति चुनती है। क्योंकि छात्र-जीवन मे उपेन्द्र सफलतापूर्वक परीक्षाओं मे उत्तीर्ण हुए थे। इसलिए लड़के अब भी उनका सम्मान करते हैं। अस्तु उपेन्द्र छात्रों से सभा का उद्देश्य पूछते हैं, ताकि सभापति के

आसन पर से, उनसे, उस विषय पर पहले ही से तैयार हो कुछ कह सके। इस बात का समर्थन करते हुए ग्रन्थकार लिखते है—'किन्तु एखन कथा हइते छे जे, एई जागा टिते शुधु चुप करिया बसिया जामना कछु बला आवश्यक।' इसकी अर्थ-ध्वनि यह है, 'परन्तु इस समय बात यह है कि इस आसन पर चुपचाप बैठा तो जाता नहीं—कुछ बोलना ही पडता है।' इसके पश्चात् ग्रन्थकार उपेन्द्र की ओर मुडते हैं। कहते है—(अतएव उपेन्द्र) एक आदमी की ओर इशारा करके बोले—'किछू बला चाइते हे।' (मुझे) कुछ कहना भी तो चाहिए। इसे अनुवाद करते हुए शरत् बाबू के मित्र लिखते है 'अरे आओ कुछ कहो भी तो।' अब देखिये 'मुझे कहना भी तो चाहिये' और 'अरे आओ कुछ कहो भी तो' इन दोनो के अर्थ मे कितना अन्तर है ? उपेन्द्र के नाम मे शरत् बाबू उपेन्द्र की अभिज्ञता सूचित करते हैं। उनके मित्र अपने अनुवाद मे उपेन्द्र जैसे विद्वान अज्ञता।

'दाँतेर हाँमी' का अनुवाद है 'दन्त हास्य'। हिन्दी मे यह एक नया आविष्कार है। अब तक दन्त-कथा का ही प्रयोग देख पड़ता था 'दाँत' और 'हँसी' इन दोनों शब्दों पर देववाणी की मुहर लगाकर—शरत् बाबू के मित्र ने खतरे से अलग होने का उपाय भी खूब सोचा जिस तरह गम्योत्प्रेक्षा का एक अलग लक्षण बतलाने के पश्चात् लाला भगवानदीन जी ने सूचित कर दिया है कि सब प्रकार की उत्प्रेक्षाएँ गम्योत्प्रेक्षा हो सकती है। उसी प्रकार हम भी कहते है हास्य, विकट हास्य, उच्च हास्य आदि के जितने बन्धु-बान्धव हैं, दन्त-हास्य मे उन सबको जगह मिल जाती है। कारण, कैसा ही हास्य क्यों न हो, उसमें दन्त जरूर निकल पडते है। वहस एक मृदु या मन्द हास्य

के लिए हो सकती है परन्तु ओष्ठ हास्य यदि कृपा करके जरा द्वार खोल दे तो उसे भी दन्त हास्य का आसन मिल जाय।

अनुवाद के चौथे पृष्ठ मे है—'लिखने-पढ़ने में मुझी को पकड़ रक्खा था।' हम इस तरह के लिखने-पढ़ने का विरोध नहीं करते। परन्तु 'सरस्वती' के किसी अंक मे किसी लेखक महोदय ने अपने मित्र सम्पादक के पत्रों से ऊब कर उनको एक चिट्ठी ही छाप दी थी। सम्पादक के पत्रों मे लिखने-पढ़ने की चर्चा के सिवा और रहता ही क्या है ! इस पत्र मे एक वाक्य इस ढंग का था 'आपके लेखक ने लिखने मे मुझे तंग कर डाला।'

एक जगह है 'जाडे का घाम पीठ पर सह कर सिर पर चादर लपेटे इन लोगों की मजलिस खूब जमी हुई थी।' यह यथार्थ रूपान्तर है। रूपान्तर होने के कारण ही यहाँ हिन्दी का स्वरूप कुछ बिगड़ गया है। वह 'सहकर' की जगह ज़रा सिकुड जाती है अनुवादकों का अत्याचार कहाँ तक सहे ! सिर पर चादर लपेटे और पीठ पर जाड़े का घाम सहते हुए लोग मजलिस मे डटे रहे उसे भी कुछ आनन्द हो। जब पहले पहल हमने इस वाक्य को पढ़ा तो बडे चक्कर मे आये, कुछ समझ मे नहीं आया। सोचा घाम से तप रहा है पीठ और चादर लपेटा सिर पर। यह कैसा। यह वाक्य तो वैसा ही है जैसा कि पीठ पर डडे सहकर सिर पर मरहम लगाये हुए विश्व वाद्य रोने लगे।—जब मूल पुस्तक से मिलाया तब उसका भाव समझ मे आया।

मूल मे है—'वास्तविक्तोर मे रूप सदिग्ध प्रकृति, ताते सन्देह हो तेइ पारे, तुई ईश्वर पर्यन्त मानिसने।' इसका अनुवाद है असल मे मेरी जैसी संदिग्ध प्रकृति है उससे एक सदेह होना स्वाभाविक ही है कि तू ईश्वर तक को नहीं मानता। 'मूल मे तो है—तेरी सदिग्ध

प्रकृति, परन्तु अनुवाद मे है 'मेरी संदिग्ध प्रकृति।' हमे शंका होती है यह अर्थ का अनर्थ पाठक समझेंगे कैसे ? कहाँ उपेन्द्र बडे जेड़े की तर, सतीश के सन्देह के कारण, उसे समझाते है। कहाँ वह कुल सन्देह शरत् बाबू के मित्र की कृपा से उलट कर उपेन्द्र ही पर सवार हो जाता है। ऐसी भूल प्रूफ देने की गल्ती से हो जाया करती है। परन्तु अनुवादक महाशय जहाँ लिखते है। उससे एक सन्देह होना स्वाभाविक ही है।इस जगह 'एक' आपको कहाँ मिल जाता है। कुछ समझ मे नहीं आता यह 'एक' है भी कितना भद्दा। एक सन्देह होना नही 'यह सन्देह होना चाहिए था।'

'सतीश बोलितो हा अदृष्ट ! ईश्वर मानिन ? भयकर मानी—इसका अनुवाद है—सतीश ने कहा—हाय भाग्य। ईश्वर भी नहीं मानता। बडे जोरो से मानता हूँ।' बगला मे 'भयंकर मानी' मे भयंकर शब्द का प्रयोग मुहाविरा है और 'भयकर' कह कर बनावटी भय के साथ-साथ सतीश मीठी चुटकी भी ले रहा है परन्तु अनुवाद में न कहीं मुहाविरा है, और न कहीं मीठी चुटकी। हाँ, बडे जोरो से गँवारपन अवश्य सूचित हो रहा है। दूसरे बड़े जोरों से मानना हिन्दी का मुहाविरा नहीं। बेहद मानना, हद से ज्यादा मानना, आवश्यकता से अधिक मानना, न जाने और कितने है। इनसे अगर दिल्लगी के भाव मे कोई कोर कसर रही जाती हो तो वाक्य के अन्त मे पूर्ण विराम न लगाकर आश्चर्य सूचक, आनन्द सूचक, हर्षातिरेक सूचक, एक मात्र चिन्ह ! लगा देते।

अब तक कलह के जो मेघ मूर्तिमान हो रहे थे, वे सब इसी हँसी की आँधी मे ऐसी गडे कि पता ही न लगे। इस अनुवाद मे अन्त का 'लगे' 'लगा' बनाना चाहता है मूल मे 'उद्देश्य, रहिल ना, से भी 'लगा' लगता है। 'तमाकेर जन्य हाँका हाँकी करते लागिबो' का

अनुवाद है—'तम्बाकू के लिए शोर करने लगा। हाँका हाँकी का भाव यहाँ शोर करने से बिगड जाता है, जोर-जोर पुकारना ही बहुत है'। 'जे अन्धकार सेई अन्धकार' का अनुवाद है—जो अन्धकार है वह अन्धकार ही है ( ! ) क्यो नहीं।

'मेझे ऊपर' का अनुवाद चटाई पर किया गया है। मेझे चटाई नहीं (Floor) है बिल्कुल जमीन। आपका अनुवाद है—अन्दाजन बाइस-तेइस वर्ष के लगभग होगा। जब अन्दाजन लिख चुके तो लगभग क्यों लिखा। इस 'चरित्रहीन उपन्यास' की प्रधान पात्री सावित्री है। यह पढ़ी-लिखी है। किसी अच्छे कुल की लड़की है परन्तु अब समाज की दृष्टि मे पतित है। तमाम ससार मे उसके लिए अपना कोई नहीं। घर-द्वार, बन्धुबान्धव बहुत पहले ही छूट चुके है। अलग एक मकान मे रहती है। मेस मे काम करती है, उसी से जीविका चलती है। युक्त प्रदेश का महरियों और मजदूरिनों से बगाल की 'झी' मे बड़ा अन्तर है। भाव एक ही है। परन्तु शब्दगत् जो लावण्य 'झी' शब्द मे है वह महरिन और मजदूरिन मे नहीं। बगाल मे कन्या के अर्थ मे 'झी' शब्द 'दुहितृ' का अपभ्रष्ट रूप है या 'धात्री' का। कुछ भी हो, है यह शब्द श्रुतिमधुर और भाव कोमल। इस शब्द मे कुछ (Romance) भी है। इसका यथार्थ भाव मजदूरिन में नहीं आता। मजदूरिन मे ना लावण्य है, न कोमलता, न अपनापन है न (Romance) है। अस्तु, 'सावित्री' का परिचय देते हुए शरत् बाबू लिखते है 'सावित्री' मसेर झी एवं 'गृहिणी' इसका अनुवाद करते हुए शरत् बाबू के मित्र लिखते हैं 'सावित्री' मेस की मजदूरिन भी है और घर की मलकिन भी। 'चरित्रहीन जैसे रोमैण्टिक उपन्यास की प्रधान पात्री को, प्रथम परिचय मे ही, मजदूरिन बतलाना, अनुवाद की रोमैन्स हीनता का परिचय है। जिस तरह शरत् बाबू के मित्र

ने 'मेस' शब्द को अपनाया है अच्छा होता यदि 'झी' शब्द भी अपनाते। 'झी' के परिचय मे एक छोटा सा नोट लिख देते तो पाठक समझ जाते। इसकी बड़ी नायिका को 'मजदूरिन' के रूप में लाना अच्छा नहीं हुआ। पढने वालों की रुचि बिगड जाती है। सतीश, जैसे अच्छे खानदान के युवक को 'मजदूरिन' से प्रेम करते देख पाठकों की रुचि भ्रष्ट हो जाती है। रोमैन्स के बदले उनमे एक वीभत्स भाव भर जाता है। 'मजदूरिन' से तो दासी अच्छा था। भाव दोनों मे एक होने पर भी शब्द लालित्य की दृष्टि से बराबर नहीं है और चाहे जिस तरह आप झी का भाव प्रकट करते, पर मजदूरिन् का वीभत्स शृगार पाठकों को न दिखाना पडता।

मूल पुस्तक मे शरत् बाबू लिखते है 'शुभ कर्म्मेरि गोलतेई टुकोना बोलछि' इसका अनुवाद है 'शुभ कार्य के आरम्भ मे ही गोल-माल मत करो कहे देता हूँ।' टुकोना का अर्थ गोलमाल मत करो, कहे देता हूँ, किया गया है। समझ मे नही आता शरत् बाबू के मित्र शरत् बाबू से मिलते है तो किस भाषा मे बातचीत करते है। यदि बंगला मे करते होंगे और बहुत सम्भव है बगला मे ही करते हों, क्योंकि गुह्य माख्याति पृच्छति' प्रीत लक्षणों मे ही शामिल है। तो क्या वे 'टुकोना' जैसे प्रचलित व्यग शब्द का भी अर्थ न जानते होंगे, थोडे देर के लिए अगर मान भी लिया जाय कि नहीं जानते बंगला, इस बीसवीं सदी की सभ्यता के अनुसार दुभाषिये की सहायता से भी मित्रता की रस्मे सोलहों आने पूरी उतार दी जाती हैं तो क्या उनके साधारण हिन्दी ज्ञान मे भी कोई अधूरापन है। अगर 'टुकोना' को हम 'टोको न' बना दें तो यह 'न' के साथ ठेठ हिन्दी का 'टोको' क्रिया बन जाती है। 'टुकोना', यानी 'न टोको,' या 'मत टोको'— पर गोलमाल मत करो लिखकर तो 'मत टोको' के साथ ज्यादती

करना ही होता है।' 'टोकना' बेचारी 'गोल-माल' करना क्या जाने? उसके तो जरा ज़ुबान हिलाने ही से शुभ कर्म पर आफत टूट पड़ती है गोलमाल करे तब प्रलय हो जाय। लिखा है—'देश के कितने ही दरिद्र हैजे मे पड़कर चौपट हो जाते हैं।' हाँ! देश के कितने ही दरिद्र हैजे मे चौपट हो जाते हैं। अगर हम लिखें, राम न करे अनुवादक महाशय हैजे मे पडे तो अनुवादक महाशय को अपने साथ हैजा शब्द देखकर, जितना कष्ट होगा, हमे 'हैजे' के साथ 'पड़कर' देखकर ही उतना कष्ट हो रहा है। दूसरा आक्षेप यह है कि शरत् बाबू तो हैजे मे गरीबों को उजाड़ रहे है। परन्तु अनुवादक महाशय गरीबों को हैजे मे डालकर चोपट कर रहे हैं। अच्छा है, कीजिए जो जी मे आये।

'क्षणकाल परे तामाक साजिया' का अनुवाद है 'पल भर मे वह तमाकू भर लाई, 'पल भर' का प्रयोग शीघ्रता बोधक अर्थ में ही किया जाता है। जैसे हम पल भर मे यह काम कर सकते हैं जहाँ 'पल भर' का इशारा, पल भर के विलम्ब की ओर होता है वहाँ पल भर के बाद का ऐसा प्रयोग ठीक नहीं। 'पल भर' के बाद तमाकू भर लाई, यहाँ पल भर के बाद, खटकता है। इसके समानार्थ के वाक्याश हिन्दी मे बहुत है।

'सावित्री बोलिली, आज मिथ्ये तमाम करलेन।'

सतीश कहिलो—'एइटेइ सत्य। आमार घाटता किछु स्वतन्त्र, ताई भाबे भाबे एरूप ना करके असुख होई पडे।'

इसका अनुवाद—सावित्री बोली—'आप झूठ झूठ बैठे रह गये।' सतीश सच है मेरा ढग ही कुछ निराला है। इसी से कभी-कभी ऐसा न करने से तबियत खराब हो जाती है। यहाँ हमारा मतलब

सिर्फ सतीश के 'सच है' वाक्य से है। इसका सम्बन्ध दिखाने के लिए ही आगे और पीछे का उतना अंश हमने उद्धृत किया है। पहले तो इतना कहना ही आवश्यक प्रतीत होता है कि मूल मे 'एइटेइ सत्य' का 'सच है' अनुवाद सर्वथा अपूर्ण है 'एइटेइ' का यथार्थ अनुवाद है 'यह सच है।' इस वाक्य मे, एइटेइ, मे जोर दिया गया है। जैसे यह मे जोर देने पर 'ही' आ जाता है और तब उसका रूप 'यही' हो जाता है। जब किसी वाक्य के किसी शब्द पर जोर दिया जाता है तब वही शब्द उस वाक्य का मुख्य शब्द हो जाता है, उसी पर पाठकों का ध्यान अधिक आकृष्ट होता है। शरत् बाबू ने 'ऐइटेइ सत्य' (यही सत्य है) लिखा तो उनका 'ऐइटेइ' भाषा विज्ञान के अनुसार एक विशेष अर्थ रखता है परन्तु अनुवादक महोदय ने इसे बिल्कुल छोड़ दिया। इस स्थल पर अनुवादक महाशय का अर्थ, भाव मे, महा अनर्थ पैदा कर रहा है। भाव का तार बिना सम के रुके संगीत की तरह एकाएक टूटकर कानों मे कटुता की तीव्र झनकार भर देता है। अब विचारणीय यह है कि शरत् बाबू यदि सतीश से 'ऐइटेइ सत्य' (यही सत्य है) कहलाते हैं तो उस 'ऐइटेइ' (यही) का प्रयोग पहले किस शब्द या वाक्य के सर्वनाम के रूप से किया गया है। हमने सावित्री की उक्ति उद्धृत कर दी है। सावित्री के उद्धृत प्रथम वाक्य पढ़ने पर 'ऐइटेइ' की आवश्यकता समझ मे आ जाती है। सावित्री कहती है—'आज मिथ्ये कमाइ करलेन।' इस वाक्य मे जोर 'मिथ्ये' शब्द पर है। इसलिए सतीश उत्तर मे कहता है—'ऐइटेइ' (मिथ्या कामाई करले न) सत्य, 'अर्थात् जिसे तुम मिथ्या समझती हो वही सत्य है। यहाँ 'मिथ्या' के विशेषण के रूप से, 'यही' का प्रयोग किया गया है। और मिथ्या और सत्य का जोड मिलाकर—दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध मे शरत् बाबू ने सतीश के वाक्य में चमत्कार उत्पन्न कर दिया

है। परन्तु अनुवादक महोदय की कृपा से चमत्कार तो दूर रहा मूल का अर्थ भी गायब हो जाता है। अनुवादक के 'सत्य है' से सावित्री के वाक्य की ही पुष्टि होती है किन्तु उसमें 'मिथ्या' को सच साबित करने का भाव जड समेत उखड़ जाता है।

# चाबुक

सुन लीजिए गोश-ए-दिल से मुश्फिकाये अर्ज़ ।
मानिन्द-बेंत गुस्से से मत थरथराइये—इन्शा ॥

सम्पादक माखन लाल चतुर्वेदी सितम्बर (१६२३ ई०) की 'प्रभा' के विचार प्रवाह मे 'प्यारे-निरक्षर' को बड़ी भावुकता से चित्रित करते हुए—यह दोष नहीं कि आपके लेख और टिप्पणियाँ भावुकता की मारी हुई रस की खोज मे रसातल पहुँच जाती हैं, या दूर की कौड़ी लाती हैं—लिखते हैं—'बूढ़े मुजरिम मैं जब से तुझे जानने लगा हूँ ''वाह भई यह तो तुमने अच्छी शैली ढूँढ़ी, तुम्हारे तू-तू मे 'गौरवे बहुवचनम्' की जगह 'सम्बोधने बहुवचनम्' की खासी बहार है। वर्ना 'बूढ़े, मुजरिम' तशरीफ़ क्यों लाते, हाँ, 'बूढे' को 'बूढा' कहो तो उसका अपमान होता, क्यों न ?

'झाड़ू' लिखते हुए यार तुमने तो कोई जगह झाड़ू ही फेरी है। यह लिख कर कि' '' जोर जोर से स्तोत्र की लकीरें पुकारने लगा।' क्या कमाल किया है। चलो, अब रास्ता साफ है। अब तुमको भी

पुकारेंगे और 'प्रभा' न आई तो 'प्रभा भी पुकारेंगे' और जोर-जोर स्तोत्र की लकीरें तो क्या विराम चिन्ह भी पुकारेंगे । हाँ एक बात और रह गई । उसी विचार में नीचे लिखा है—

'क्या तेरे इस पाखंड पर झाड़ू नहीं पड़नी चाहिए ?' क्योंजी 'यह झाड़ू पड़ना' कहाँ का मुहावरा है । हाँ बँगला में इस 'झाड़ू' या 'झाँटा' के कितने ही प्रयोग होते है, तो क्या तुम्हे भी बँगला की बू पसन्द है ? अरे यार यह बुखार है जो मर जाने पर भी १०५ डि० बना ही रहता है । जब कि 'झाड़ू पड़ना' हिन्दी का एक मुहावरा नहीं तो इसका सीधा अर्थ हुआ 'झाड़ू गिरना' अच्छा अब समूचे वाक्य का अर्थ तुम्हीं लगा कर देखो क्या मजा आता है ।

कहीं-कहीं अव्ययो ने तो भावों तक का अपव्यय कर डाला है । प्रमाण यह लो—'पीडित नर-नारी घास की रोटी बना कर खाते हैं फिर भी वे मर जाते है ।' 'फिर भी' को फासी सी दी गई है, वह कहता है, अगर आप मेरा पीछा नही छोडना चाहते तो मेरे शुद्धि आन्दोलन पर ध्यान देकर अपने वाक्य को इस तरह लिखिये 'फिर भी वे नहीं जीते ।' लोग घास-पात खाते हैं जीने ही के लिए और जबकि जीने का अभाव दिखलाने के उद्देश्य से 'फिर भी' को घसीटा तो 'मरना' धातु से भावों का साम्य नष्ट न होने देना चाहिए था । पहिले वाक्य की ध्वनि जीना है और दूसरे की उसका अभाव । अस्तु वह छिपी हुई ध्वनि तभी व्यक्त होगी जब दूसरे वाक्य की एक ही क्रिया से भाव और अभाव दोनों का स्पष्टीकरण हो जायगा । 'अतएव' फिर भी वे नहीं जीते—लिखना चाहिए था ।

× × ×

सितम्बर, १९२३ की 'सरस्वती' मे प० रामचरित उपाध्याय की 'सरलता' शीर्षक कविता पढिये तो उसके कर्ण कटु शब्द ही आपके

हृदय से सरलता को घसीट कर बाहर निकाल देंगे, फिर मौके-बेमौके आपको शब्दों के विकट विन्यास के थपेडे भी सहने पड़ेंगे। अगर इतने पर भी आपके होश ठिकाने न हुए तो पूरी कविता पढ़ डालने से पहिले ही आपको भविष्य व्याधि से बचने के लिए दस, ग्रेन 'कुन-यन' या तो किसी 'परगोटिव पिल' का सेवन करना पड़ेगा क्योंकि यह कविता इतने सहज हज्म होने की नहीं। आपकी कविता मे कवित्व का तो कहीं पता नहीं पर उपदेशों की भरमार और उनकी खासी बहार है। वक्र, बक और टेढ़े-मेढ़े बन जाने के, आपकी कविता मे एक नहीं, अनेक उदाहरण हैं। बानगी या नमूने के लिए लोग पहले हाथ बढ़ाते हैं। अतएव हमारे पाठक भी उदाहरण के रूप मे नमूना देखने के लिए घबराते होंगे। अच्छा लीजिए यह पहली बानगीः

**"सरल सबल के साथ निबल भी**
**प्रतिपल रहता कड़ा हुआ।"**

इस पद्य से गद्य बनाइये तो ऐसा होगा 'सरल' (और) सबल (मनुष्य) के साथ निबल (मनुष्य) भी (?) प्रतिपल कड़ा हुआ (!) रहता है।'

इस पद्य मे 'हुआ' के साथ एक तुक मिलाने के उद्देश्य से ऐसी मनमानी की गई है। शब्दों को प्राणों की तरह प्यार करने वाले कवि कभी ऐसे बेदर्द भी होते हैं। इसके उदाहरण उपाध्याय जी की कविता मे आप, जितने चाहे देख लीजिए। 'हुआ' के आगे 'बना' बैठाइये तो किसी तरह इस कविता की शुद्धि हो सकती है परन्तु सच पूछिये तो आपके पद्य ऐसे होते है कि आप उनका चाहे जितना सुधार करें गद्य मे भी उनके उसी 'अष्टावक्र' स्वभाव मे दर्शन होते है। आपके उद्धृत पद्य मे 'भी' की भी बड़ी बुरी दशा है—वह शब्द तो समालोचकों की सहानुभूति पाने की आशा से कह रहा है 'गये दोनों जहाँ से खुदा

की कसम, न इधर के रहे न उधर के रहे।' इस 'भी' को आपने मात्रायें पूरी करने के लिए रक्खा तो वह अर्थ की असगति की ओर इशारा करके आपसे बदला चुका रहा है। देखिये, यदि आप कहते है कि 'सबल के साथ निर्बल भी कड़ा बना रहता है।' तो इस 'भी' के प्रयोग से सूचित होता है कि 'निर्बल' के अतिरिक्त कोई और (मनुष्य) सबल के साथ कड़ा, बनने का इरादा रखता है। जैसे, उनसे हम भी नहीं बोलते, इस वाक्य मे, 'भी' का प्रयोग सूचित कर देता है कि हमारे अतिरिक्त कोई और है जो उनसे नहीं बोलता, अतएव उद्धृत पद्य में 'भी' के प्रयोग से अर्थ की असंगति हो गई है। यदि आप उससे ऐसा अर्थ निकालना चाहते हों कि- निर्बल रहने पर भी सरल ? और सबल के साथ (मनुष्य) प्रतिपल कड़ा बना रहता है—तो आपके भाव कुछ और है और आपके शब्द कुछ और कह जाते है। उस रीति से 'भी' को तो एक 'ओर' मिल जाता है परन्तु आपका 'हुआ' ज्यो का त्यों 'हुआता' ही रह जाता है।—यदि आपने प्रथम पक्ति टेढ़े अकुश के वश मे है। करीब बली भी पड़ा हुआ—के 'बली भी' का सौन्दर्य बढ़ाने के लिए दूसरी पंक्ति मे 'निर्बल भी' रख दिया है, तो इस शब्द योजना से आपकी कविता-शक्ति को भी नीचा देखना पड़ा। 'यद्यपि समय पाकर निज पालक को (का ? )भी वह दुखदाता है।' 'को' रखिये तो उधर 'दाता' को 'देता' कर दीजिए और यदि 'दाता' बेतुका कह जाने के भय से अपना आसन न छोडे तो 'को' की जगह 'का' बना दीजिए। 'वक्र' नखयुध जिस-जिस पशु को ( के ? ) है (है ?)। उपाध्यायजी 'है' लिख कर, इस एक वचन की क्रिया से साबित करते है कि एक नखायुध वाला पशु भी है। अच्छा होता यदि आप उसका यही उदाहरण अपनी कविता मे दे देते। 'का' और 'के' की जगह 'को' लिख मारने का आपको अभ्यास सा पड़ गया है। कृपा करके क्या 'कोको'

की करामत मे कुछ कमी भी कीजिएगा ?

**बिना वक्र के बने कभी, क्यो**
**हो सकता मन स्थिर कैसे ?"**

गद्य इसका यों होगा—'बिना वक्र के आपस मे वाहियात है बने कभी क्यों (?) कैसे ? (?) मन स्थिर हो सकता है ? कभी के बाद 'क्यों' और 'कैसे' कमाल कर रहे है। बस कविता की हद हो गई।

कलकत्ता यूनिवर्सिटी के हिन्दी प्रोफेसर प० सकल नारायण जी पाण्डेय काव्य संख्या व्याकरतीर्थ के माधुरी के किसी अंक मे 'ही' शीर्षक एक प्रबन्ध लिखा है। प्रबन्ध विद्वता पूर्ण है। अगर उसमे कहीं कुछ कोर-कसर रह गई है तो उसका कारण यह है कि प्रबन्ध लिखते समय 'सरस्वती' को उलट-पुलट कर बख्शी जी के 'ही', 'भी' के प्रयोग आपने देख लिये। आपको उदाहरणों सेवहीसहायता मिलती। अगस्त ( १६२३ ) को सरस्वती, विविध विषय, पृष्ठ १६५, प्रथम कालम के दूसरे पैराग्राफ मे लिखा है 'कोरम' पूरा भी होता है तो सब न सही, अधिकाश भी मेम्बर नहीं आते।' पाठक ! 'भी' की भरमार देखी आपने। क्यों भाई सम्पादक ! अगर ऐसा लिखते—कोरम पूरा (भी) होता है तो भी अधिकाश मेम्बर नहीं आते। तो भला सम्पादन कला की १६ नहीं ६४ कलाओं मे से कितनी कलाएँ घट जातीं ? जबकि 'अधिकाश' खुद कहता है कि किसी पूर्ण विषय या वस्तु का, सब नहीं, अधिक अश हूँ तो 'सब न सही' अकारण क्यों लिख मारा ? जान पड़ता है 'अधिकाश' के पीछे 'भी' जोड़ने के लिये 'सब न सही' को रगड़ डाला।

इस संख्या के दूसरे नोट की ११वीं लाइन से शुरू करके लिखा है 'तब आजकल जैसे साधन भी न थे' यहाँ तो जैसे की कृपा से 'आज-

कल' और 'साधन' दोनों 'समवायः सखा मतः' हो गये है यानी 'आजकल' और 'साधन' मे फर्क बाल भर नहीं रह गया, जैसे 'आप जैसे उदाराशय मनुष्य ससार मे कम है' इस वाक्य मे आप और उदाराशय मनुष्य 'जैसे' की कृपा से भेद बुद्धि रहित हो गये हैं। यानी जो आप है, वही उदाराशय मनुष्य है। परन्तु सरस्वती सम्पादक का जो 'आजकल' है वही 'साधन' नही। अतएव सरस्वती सम्पादक की लुटिया तभी डूबने से बचेगी जब 'आजकल' और 'जैसे' के बीच मे एक 'के' जोड दिया जायगा।

× × ×

आश्विन (सं० १६८०) की माधुरी मे एक लेख है 'लाहौर'। पढ़ने लगे तो पहिली ही पक्ति मे धोखा खा गये। लिखा है—'पुरातन काल से चली आने वाली पजाब की राजधानी लाहौर ने जितने परिवर्तन देखे हैं'—श्रीमती लाहौर के पैर बडे मजबूत है क्योंकि वे पुरातन काल से चलती ही आ रही है। कहीं बैठीं नही, विश्राम जरा भी नहीं किया। न जाने अभी कब तक चलना पडे। उनसे प्रार्थना है कि वे हिन्दी ससार मे इस तरह मनमानी चाल न चले। क्योंकि इस बन मे बबूर के काँटों की कमी नही। छिद जायँगे तो निकालने मे आफ़त होगी। उनके सपूत पजाबी उन्हें चलाते है तो चलावे पर लखनवी सम्पादक नज़ाकत की राजधानी मे रहने पर भी, इतने बेदर्द हो जायँ कि उन्हे चलने से न रोके, यह बडे परिताप की बात है। 'माधुरी' की इसी सख्या मे 'क' नामक लेखक ने 'साहित्यालोचन' शीर्षक लेख मे बाबू श्याम सुन्दर दास, बी० ए० की साहित्यालोचन पुस्तक की आलोचना क्या की, व्यर्थ निन्दा लिखी है। साहित्यालोचन भले ही साहित्यदर्पण के जोड की पुस्तक न हो, पर वह कुछ नहीं है यह वही कहेगा, जिसे साहित्य के किसी भी अग का ज्ञान

नहीं—साहित्य के नाम से जो बिल्कुल कोरा है। 'माधुरी' के सम्पादकों को चाहिये था कि ऐसी आलोचना के लेखक का पूरा नाम दे देते। अच्छा, अब 'क' महाशय के भाषा-ज्ञान की भी थाह लीजिये। आप लिखते है 'मगर पिछले पाठ को तो (!) इसके पढने की आवश्यकता ही क्या है ?' 'तो' इस वाक्य मे वैसे ही चमक रहा है 'हस मध्ये बको यथा'। 'तो' की कोई आवश्यकता न थी। आप लिखते है, 'सम्भव है जो कुछ बाबू साहब ने इस विषय मे पढा हो, उसको शायद (!) इसलिये कुछ सक्षेप मे लिख लिया हो'—आलोचना के लेखक महोदय आप जब 'सभव' लिख चुके तो 'शायद' बेचारे को भला क्यो सजा दी ? आपके सम्भवता सूचक वाक्य का अन्त ही न हो पाया और शेख 'शायद' मियाँ डट गये। सम्भवता का इतना डबल कोर्स क्यों ?

× × ×

लोग कहते है, इस समय 'माधुरी' हिन्दी ससार की श्रेष्ठ पत्रिका है। दबी जुबान से नही हम भी कहते और मानते है। खुलकर कुछ इसलिये नही कहते कि कही हमारी गुरुता का रंग फीका न पड जाय।

'आश्विन की माधुरी के ११वे नोट मे' 'अभी बारम्बार मार खाकर हिन्दू जाति ने करवट बदली थी। जान पडता था, अबकी उसके चोट लगी है, वह अब अवश्य उठकर, यथा सम्भव शीघ्र ही, तत्परता के साथ सगठित होकर, शक्ति की आराधना के साथ शान्ति, मैत्री, साम्य का साम्राज्य स्थापित करके ही दम लेगा।' वाह भाई, तुमने इस पूरे दो हाथ के सेंटेंस को कितना सुहावना बनाया उतना ही 'स्टेंस' भी दिया। क्योंकि पहले तो जाति ने करवट बदली थी,

उसके चोट लगी। 'फिर वह साम्राज्य स्थापित करके ही दम लेगा।' जान पडता है तुम 'जाति' को उभयलिंग मानते हो, क्यो न ?

× × ×

आश्विन ( १६८० ) की 'शारदा' के प्रथम पृष्ठ पर 'किरीट' उपनाम-धारी किसी कवि महोदय की एक कविता प्रकाशित हुई है। कविता के कालमो की सजावट को देखकर मालूम हुआ कि 'काचन जङ्घा' के साथ 'किरीट' जी का कोई 'घनिष्ट सम्बन्ध है।' क्योकि कविता किरीटनुमा है। शीर्षक है 'विजयाह्वान'। तुकबन्दी मे फर्क बालभर नहीं रह गया। 'पास' 'हास' आदि अनुप्रास बडे ढग से रखे गये है। आजकल के तुक्कड तो बस अनुप्रास की पूँछ पकड़कर कविता वैतरणी से पार होते है, भाषा और भावों के सगठन पर चाहे पत्थर ही पडे। उसमे एक जगह है :—

**जो हम चिन्ता छोड़ मनाये (मनाते ?)**
**गये सदा उत्सव हर साल,**
**तो प्राचीन प्रथा में होगा**
**क्यो कुछ परिवर्तन विकराल।**

इस कविता से तो बेहतर यह था कि यहाँ एक खासा लठ्ठ का चित्र अकित कर दिया जाता, तो लोग देखकर कुछ रसानुभव भी करते। एक जगह और लिखा है :—

**समय चक्र का फेर बुरा, हो जावे चाहे जो आज।**
**पर संशय का पात्र नहीं है, भारत के भविष्य का साज।**

ठीक है, आप कविता लिख रहे है या ज्योतिष उद्गीर्ण कर रहे है। अगर भविष्य के शब्द आपके पेट मे आवश्यकता से अधिक चले गये

हों तो कवि जी ! सावधान, कहीं हाजमा न बिगड़ जाय ! फिर 'वर्तमान' से 'चूरण' मिलने की आशा छोड़ देनी पड़ेगी। हमारी विनय पर ध्यान दीजिये—

**तुकबन्दी के लिये तुम्हे हम धन्यवाद देते कविराज।**
**किन्तु प्रार्थना, कवि जी ! रखना भाषा भावों की भी लाज।**

'सरस्वती' हिन्दी की सर्वोत्तम पत्रिका है। पूज्यपाद द्विवेदी जी के परिश्रम से वह अंग्रेजी 'माडर्न रिव्यू' और बंगला के 'प्रवासी' आदि प्रतिष्ठित पत्रों के जोड़ की हो गई है। उसकी भाषा भी हिन्दी के लिए आदर्श है। जब तक द्विवेदी जी उसके सम्पादक थे तब तक उसकी भाषा कितनी सुन्दर और निर्दोष होती थी, यह हिन्दी के सभी पाठकों को विदित है। इसमे सन्देह नहीं कि सभी पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी नहीं हो सकते परन्तु फिर भी, किसी सुयोग्य पुरुष रत्न द्वारा जिस आसन की प्रतिष्ठा हो जाती है उस पर उनके पश्चात् चाहे जिसे बैठने का सौभाग्य प्राप्त हो, वह आदर और सम्मान की दृष्टि से ही देखा जाता है। अतएव हिन्दी ससार बख्शी जी को भी श्रद्धा की दृष्टि से देखता है। हमें यह लिखते हुये दुख हो रहा है कि बख्शी जी की भाषा को हम हिन्दी की आदर्श भाषा नहीं मान सके। हमे उनकी भाषा मे, उसके पद प्रकरण मे एक नहीं अनेक, यत्रत नहीं प्रायः सर्वत्र, दोष ही दोष देख पडते है। सम्भव है, यह हमारा अल्पज्ञता का कारण हो, और यह भी सम्भव है कि सी० पी० (मध्य-भारत) की हिन्दी भी कुछ ऐसी ही होती हो।

मार्च (१९२४) की "सरस्वती" के दूसरे नोट के चौथे पैराग्राफ मे है—'अब उनकी स्थिति इतनी उन्नत जरूर हो गई है कि उनके कहने का प्रभाव पड सकता है।' इस पर निवेदन यह है कि 'उनकी स्थिति

उन्नत होने के कारण उनके कहने का प्रभाव पड सकता है यदि इस प्रकार से भाव प्रकट किया जाता तो 'पड सकता है' क्रिया का शुद्ध प्रयोग माना जा सकता था। परन्तु, जब इतनी ऊँची की उन्नत दशा समझाने के लिये एक दूसरे वाक्य (Clause) की सहायता ली गई तो 'पड सकता है' क्रिया का प्रयोग उस वाक्य मे न होना चाहिये था। वहाँ इतनी बडी समापिका क्रिया की आवश्यकता न थी। वहाँ तो एक 'ऐसी क्रिया की आवश्यकता थी जो किसी विशेषण या परिचय रूप मे व्यवहृत होने की सूचना स्वय देती। हमारी मन्द बुद्धि के अनुसार तो वहाँ 'पड सकता है' नाही 'पडे' या 'पड सके' क्रिया का व्यवहार होना चाहिये था। सम्पूर्ण वाक्य इस तरह होता है—'अब उनकी स्थिति इतनी उन्नत जरूर हो गई है कि उनके कहने का प्रभाव पडे या पड सके।'

× × ×

मार्गशीर्ष (१६८०) की 'माधुरी' का दूसरा नोट है 'मद्रास प्रान्त मे हिन्दी-प्रचार का पुनीत कार्य'। इस पुनीत कार्य के लिये सम्पादक युगल की आशाजनक भाषा बड़ी ही निराशा की दृष्टि से समालोचको की कृपा भिक्षा माँग रही है। आप लिखते है—'किन्तु हमे आशा है कि जो सज्जन काग्रेस मे सम्मिलित होने की वैसी इच्छा न रखते हो, वे भी केवल हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इस अधिवेशन मे सम्मिलित होने के लिए मद्रास पहुँचे।' क्यो पण्डित युगल ! 'हमे आशा है—वे भी—मद्रास पहुँचे'। हरे हरे ! आशाजनक वाक्य मे 'पहुँचूँ' आदेशदात्री क्रिया ! अथवा आग्रह की सूचना ! आप लोगों को तो इस वाक्य का सम्पादन यों करना चाहिए था 'किन्तु हमे आशा है, जो सज्जन काग्रेस मे सम्मिलित होने की वैसी इच्छा नहीं रखते, वे भी केवल हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के इस अधिवेशन मे